प्रकाशक
गोकुलदास धूत,
नवयुग साहित्य सदन, इंदौर।

तीसरी बार : १९४७
मूल्य
डेढ़ रुपया

मुद्रक
अमरचन्द्र,
राजहंस प्रेस,
दिल्ली, ११-४७।

प्रयोजन

यह 'मनन' मन की उछालें हैं। कूद-फांद मन का स्वभाव ही है। जब वह गहरे में गोते लगाता है तो कीमती रत्न भी ले आता है। इस 'मनन' में पाठकों को बालु-कण, शंख, घोंघे, सीप, मूंगा व मोती सभी मिलेंगे। जो हंस होंगे वे पानी को चखकर दूध को पी लेंगे।

इनको लिपिबद्ध करते हुए मुझे खुद काफी लाभ हुआ है; जब-जब निगाह पड़ जाती है तब-तब कुछ-न-कुछ स्फूर्ति, संवेदन, आन्दोलन, का अनुभव करता हूं—अपने-आपमें डूबने लगता हूं। इस स्वानुभव से यह अनुमान होता है कि पाठकों को भी इनके प्रकाशन से कुछ-न-कुछ लाभ अवश्य होगा। हुआ तो मुझे खुशी होगी।

विचारों की शृङ्खला जोड़ने के लिए इनमें 'स्वगत' व 'बुद्‌बुद्' में प्रकाशित कुछ वचन भी यत्र-तत्र जोड़ दिये गए हैं।

अजमेर
२४-२-४५

हरिभाऊ उपाध्याय

सूची

मनन

: १ :

परम-तत्त्व

इष्ट वस्तु—तत्त्व—है, तत्त्व नियम है। मूल-तत्त्व आत्मा है, व्यापक-तत्त्व ब्रह्म है। तत्त्व से आत्मा की प्राप्ति है। आत्मा की व्याप्ति ब्रह्म है।

देह-बद्ध आत्मा जीवात्मा है; देह के विकारों से, देहाभिमान से, रहित जीवात्मा परमात्मा है।

प्रकृति ब्रह्म की शक्ति का भी नाम है व स्वभाव का भी। शक्ति-अर्थ में महामाया, स्वभाव-अर्थ में चेतना, आनन्द, शान्ति कह सकते हैं।

परम-तत्त्व का गुण सत् या सत्य है, शक्ति चित् या ज्ञान-क्रिया है, व स्वरूप आनन्द या अशोक, शान्त है।

ज्ञान से तत्त्व का रूप समझ में आता है, क्रिया से तत्त्व की उपलब्धि होती है।

तत्त्व का धर्म स्पन्दन है; मानसिक या सूक्ष्म या सुप्त स्पंदन निर्गुण अवस्था तथा प्रतीतिमान या दृश्य स्पन्दन सगुण-अवस्था है।

तत्त्व के व्यक्त होने की वह अवस्था, जब मूल-रूप का ज्ञान व चेतना लुप्त हो जाती है, माया-अविद्या-अज्ञान है।

शरीर व मन-बुद्धि की प्रत्येक क्रिया को आत्ममयी देखना, व्यक्ति में आत्मा का तथा अपनेको विश्वमय देखना, जगत् में परमात्मा का अनुभव या साक्षात्कार करना है।

ईश्वर की किसी मूर्ति के दर्शन करना चित्त में ईश्वर-स्वरूप-विषयक जो कल्पना, संस्कार या धारणा है, उसी का साक्षात्कार या प्रत्यक्षीकरण है।

परमात्मा का जितना रूप प्रकट हुआ है उसका नाम जगत् है। इसमें परमात्मा का उद्देश्य अज्ञेय व अज्ञात है। परमात्मा का स्पन्दन-स्वभाव—उत्पत्ति व लय—इसमें मौजूद है।

परमात्म-स्पन्दन का उत्कोच—खुलना—या प्रसरण जगत् की उत्पत्ति, उसका संकोच—सिकुड़ना—जगत् का लय है।

परमात्म-वस्तु से जगत् बना है, अतः परमात्मा जगत् का उपादान कारण है, व परमात्मा की क्रिया-शक्ति इसके बनाने में निमित्त हुई है, अतएव वह उसका निमित्त कारण भी कहा

जाना चाहिए ।

जब कि जगत् परमात्मा का दृश्य-रूप है तो सब प्राणियों में आत्मिक एकता है, अतः बाह्य व्यवहार भी एकता अथवा समता का ही होना चाहिए ।

नहीं होता. इसका कारण अपने मूल-स्वरूप का अज्ञान ही है । हम परमात्म-सागर से बिखरी बूंदों या बुलबुलों की तरह हैं ।

ईश्वरत्व-प्राप्ति सिद्धि या शक्ति की साधना है, ब्रह्मप्राप्ति शांति की । ईश्वरप्राप्ति द्वैत की तथा ब्रह्मप्राप्ति अद्वैत की साधना है । शक्ति के प्रयोग के लिए कोई दूसरा चाहिए, ब्रह्मानन्द के लिए एक या एकत्व ।

ईश्वर के छः गुण हैं—ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज और ब्रह्म के तीन—सत्, चित्, आनन्द । छहों गुण सामाजिक, परापेक्षी, या द्वैताकांक्षी हैं, तीनों गुण केवल स्वापेक्षी हैं ।

जीव संकुचित केन्द्रस्थ अहन्ता का ही नाम है । जैसे-जैसे उसका केन्द्र 'स्वदेह' से स्वकुटुम्ब, स्वसमाज, स्वदेश में फैलता जायगा, वैसे-ही-वैसे उसकी अहन्ता शुद्ध होती जायगी ।

जीव परमात्मा का अंश है; अतः आत्म-ज्ञान होने पर भी

जीव-संज्ञक रहने तक, उसकी शक्ति सीमित ही रहेगी। सूक्ष्म जगत् में एकता स्थापित हो जाने पर भी स्थूल-जगत् की सीमा या भेद मिटाना शक्य नहीं है। चित्त चैतन्य से मिल जायगा, परन्तु शरीर पञ्चभूतों से आगे नहीं जा सकता।

अद्वैत-सिद्धि का ही दूसरा नाम निरालम्ब-स्थिति है, इस से पूर्व की अवस्था द्वैत तथा सालम्ब-स्थिति।

आध्यात्मिकता क्या है। मकान का जो रिश्ता बुनियाद से है, पेड़ का जो नाता जड़ से है, वही सम्बन्ध मनुष्य-जीवन का आध्यामिकता से है। जब तक हम किसी बात का ऊपर ही ऊपर विचार करते हैं तब तक हम व्यवहारी या दुनियादार है, जब हम उसकी तह तक पहुंचते है, तब हम आध्यात्मिक होते हैं।

सतर्कता व जागरूकता आत्मा की ज्योति है, पर संशय व अविश्वास हृदय की गन्दगी है।

जो जगत् की उपेक्षा करके आत्मा को देखेगा वह उसके सिर्फ अहंकार को देखेगा, जो जगत् को आत्मा में देखेगा वह उसकी पूर्णता को देखेगा।

जो आत्मा में जगत् को देखेगा उसकी दृष्टि जगत् के प्रति घृणा की नहीं; द्वेष की नहीं; समभाव की रहेगी; जो जगत्

को उपेक्षा-भाव से देखेगा, उसकी दृष्टि तुच्छता की रहेगी।

यदि जगत् परमात्मा का ही एक विस्तार या झांकी है; या अंश है, तो उनकी उपेक्षा या घृणा परमात्मा की ही उपेक्षा या घृणा नहीं है ?

तेजस्विता आत्मा का रक्षक रूप है, अहंकार दूसरों को तुच्छ देखने-रूपी दोष है. तेजस्विता का लक्ष्य वस्तु होती है, तहां अहंकार का व्यक्ति।

ईश्वर इसलिए बड़ा है कि व्यक्ति को अपनी सत्ता व शक्ति मर्यादित मालूम होती है। व्यक्ति इसलिए बड़ा है कि उसने ईश्वर को पहचाना है।

आस्तिक होने के मानी हैं (१) एक सर्वोच्च शक्ति या नियम पर विश्वास करना, जिससे यह संसार-चक्र प्रेरित व संचालित है; (२) कर्म-फल पर विश्वास करना और (३) जीवमात्र के अंतिम मांगल्य पर श्रद्धा रखना।

यह नहीं कह सकते कि ज्ञान का अन्त आ चुका, सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि ज्ञान अनन्त है और सान्त मनुष्य अनन्त ज्ञान की थाह नहीं पा सकता।

ज्ञान की व्यापकता में मत-भेद व मूलाग्र में मतैक्य की ओर गति होगी।

: २ :

'सत्यम्'

सत्य एक हकीकत है, जिसे अनुभव करना है; अहिंसा एक वृत्ति है, जिसका विकास करना है। सत्य जगत् में सर्वत्र व्याप्त तथ्य का नाम है और अहिंसा जगत् के प्रति अपने सम्बन्ध या व्यवहार का सर्वोच्च नियम है।

सत्य ही मनुष्य का एक मात्र साध्य है—शेष सब साधन हैं। शास्त्र, कला, सौन्दर्य, सब सत्य की ओर ले जाने वाली सीढ़ियां हैं। यदि ये सत्य से विमुख होने लगें तो समझ लो कि ये व्यभिचारी हो गये हैं।

सत्य बुद्धि से समझने की नहीं, जीवन में अनुभव करने की वस्तु है। बुद्धि ने दर्शन-शास्त्रों को व अनुभव ने उपनिषदों को जन्म दिया है।

सत्य के मानी हैं उच्च-से-उच्च, श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ; पुण्य-से-पुण्य, स्थायी-से-स्थायी उपयोगिता, लाभ। यदि ऐसा न हो

तो सत्य की निष्ठा मैं सबसे पहले करूंगा ।

शुद्ध अन्तःकरण में ही सत्य का स्फुरण होता है। स्वार्थ व मोह छोड़ने से ही अन्तःकरण शुद्ध बनता है।

सत्य की कसौटी क्या ? मुझे लगे वह सत्य या दूसरों को लगे वह ?

यदि सत्य एक ही है तो सत्य उसी को कहना होगा जो दोनों को सत्य लगे ।

तो जो दोनों में से किसी एक को सत्य लगे वह क्या असत्य हुआ ? जिसको वह सत्य लगता है उसके लिए वह सत्य हुआ; जिसको असत्य लगता है, उसके लिए असत्य ।

मेरी सफलता तभी है जब मैं अपना सत्य दूसरे को सत्य समझा या मनवा सकूं ।

सत्य की आत्मा तो एक है; पर उसके रूप जुदा-जुदा हैं। मुझे सत्य का जो रूप दिखता है या दीखा है, वह दूसरे को नहीं दीखा—इसीलिए वह उसे नहीं मानता है। अतएव मैं या तो सत्य को उस रूप में उसके सामने पेश करूं जो उसके लिए परिचित है या उसकी दृष्टि सत्य की आत्मा की ओर फेरूं ।

एक मात्र सत्य पर ही दृढ़ रहने का स्वभाव जबतक नहीं

बन जाता तबतक कहीं-न-कहीं कमजोरी; वुजदिली, दब्बूपन प्रकट हुए बिना न रहेगा।

मुंह पर कड़ी, अप्रिय लेकिन सच्ची बात कह देने वाला चाहे अनघड़ कहा जाय, पर वह उस व्यक्ति की अपेक्षा सत्य के अधिक नजदीक है जो मधुर शब्दों में सत्य को छिपा कर दूसरों को प्रसन्न रखना चाहता है।

जिस सत्य की रक्षा के लिए हमें औरों को दबाना और डराना पड़ता है, उसकी सत्यता में सन्देह करना चाहिए।

जिसे नग्न ही रहना है; जो सूर्य प्रकाश का सदैव स्वागत करता है, वहां से डर सौ कोस दूर रहता है।

सत्य तो नग्न ही हो सकता है, किन्तु यह मान लेना भूल होगी कि जो कुछ नग्न है वह सब सत्य ही है।

मुझ में से जो नग्न सत्य प्रकट हुआ है उसमें यदि क्रोध या दम्भ या अभिमान या और कोई दोष मिला हुआ है तो उतने ही अंश में उसे असत्य समझना चाहिए। घुमा फिरा के कही बात में भी असत्य की छाया होनी चाहिए।

सत्य में संयम की आवश्यकता इसलिए है कि हम नाना विकारों से भरे हुए हैं। अपने विकारों के प्रभाव से दूसरों को बचाने का ही नाम संयम है।

सत्य को सुन्दर रूप मे रखना एक बात है और विकृत रूप में रखना दूसरी। सत्य को गुप्त रखना एक बात है और अन्यथा भासित कराना दूसरी।

सत्य को गुप्त रखना दूसरे को उसके लाभ और प्रकाश से वंचित करना है, अन्यथा भासित कराना दूसरों को धोखा देना है।

मैं क्या हूं ? सत्य का एक व्यक्त रूप। दूसरा क्या है ? सत्य का एक व्यक्त रूप। दोनों 'एकों' में जो अन्तर है वह असत्य है।

जब मैं मूलरूप मे यह मानता हूं कि यह मेरा और यह तुम्हारा है तो मैं असत्य का सेवन करता हूं। जब मैं सिर्फ बाह्य रूपों में यह भेद करता हूं तो मैं वस्तुस्थिति को मान्य करता हूं।

यह मान लेना कि मन में जितनी बात उपजती हैं, सब सच होती हैं और जितनी हम कह या कर जाते हैं सब सच ही हैं, हमारा बड़ा भ्रम है।

एक तो सदा सच बातें उसीके हृदय में स्फुरित होती है, जिसका जीवन परम सात्विक—जो सर्वथा राग-द्वेष से हीन है; दूसरे यदि सत्य स्फुरित भी हुआ तो उसे प्रकट

करने का साधन—मनुष्य का मुख या लेखनी—अपूर्ण होने के कारण, प्रकटित बात बिल्कुल सत्य ही है, यह दावे के साथ नहीं कहा जा सकता।

अतएव यह मानना कि सत्य तो कड़वा होता है और कड़वा ही बोलना, या कटुता आती हो तो उसके प्रति लापरवाही रखना, सत्यप्रिय मनुष्य के लिए उचित नहीं।

सत्य और कटुता एक जगह नहीं रह सकते। सत्याग्रही जब तक इस बात का विचार नहीं रखता कि मेरी बात या व्यवहार से दूसरे के दिल को चोट पहुंचेगी, तबतक सत्य का उदय उसके हृदय में न हुआ समझिए।

जहां दूसरे के दिल को न दुखाने की मृदुलता नहीं है, वहां अहिंसा के अस्तित्व में सन्देह है; और जहां अहिंसा नहीं, वहां सत्य की कल्पना करना निरर्थक है।

यदि मैं सत्य का ही हामी हूं तो मेरे निन्दक को दबाने का यत्न मुझे क्यों करना चाहिए?

यदि तू सत्य को अपना मार्ग-दर्शक बनावेगा, तो बहुतेरी समास्याओं और जंजालों से बच जावेगा। तुझे तपना तो पड़ेगा परन्तु तेरी गति को कोई रोक न सकेगा।

सत्य किसी पर ऊपर से ठूंसा नहीं जा सकता। भीतर से

जगाया जाता है। हमारा सत्याचरण उसका श्रेष्ठ साधन है।

सत्य-शोधक एकांगी—संकीर्ण नहीं हो सकता। एक दल में वन्द नहीं हो सकता। उसकी दृष्टि एकाग्र होगी, परन्तु सहानुभूति व्यापक।

ज्यों-ज्यों तुम सत्य की ओर बढ़ते जाओगे त्यों-त्यों तुम्हें दूर की वातें प्रत्यक्ष दीखने लगेंगी और तुम्हारे निश्चय में दृढ़ता आती चली जायगी।

सत्य व उचित वात के लिए हम जितना ही सहन करेंगे उतना ही जनता की आत्मा को अधिक जाग्रत करेंगे।

कटु सत्य में हिंसा व प्रतिहिंसा ही नहीं, अभिमान भी है। प्रेम के अतिरेक से सत्य में तीखापन आ सकता है, कटुता तो द्वेष का ही प्रदर्शन है।

यदि मैं सत्य का सच्चा ग्राहक हूं और सत्य का कुछ-न-कुछ अंश प्रत्येक में विद्यमान है, तो प्रत्येक वस्तु उस अंश तक मेरे अनुकूल न होगी ?

यदि हम सदैव जाग्रत हैं तो प्रत्येक तफसील पर हमारा ध्यान रहेगा। छोटे-से-छोटे कर्त्तव्य की भी छूट हमसे न होगी।

सत्य को यदि जीवन में उतारना है तो उसकी प्रत्येक तफ़-

सोल—अपन एक-एक अणु में उसे पहुंचाना होगा।

यदि शरीर में स्वास्थ्य आरहा है तो वह प्रत्येक अणु परमाणु में आये व प्रकट हुए विना न रहेगा। वैसे ही यदि हम में सत्य का संचार हो रहा है तो वह प्रत्येक अणु तक पहुंचे बिना व उनमें झलके विना कैसे रहेगा ?

उसको अणु-परमाणु तक न पहुंचने देना, अस्वस्थ अंग में शुद्ध रक्त न पहुंचने देने के बराबर अपराध है।

यदि सत्य से सच्ची लगन होगई है तो उसके लिए किया गया भीषण परिश्रम व भयंकर साहस कुछ भी नहीं प्रतीत होगा जैसे कि कामी पुरुष को।

जो सत्य का अनुयायी है उसे किसी पर क्रोध करने का अधिकार नहीं। क्योंकि क्रोध करना दूसरे को उसके सत्य को प्रकाशित करने—हम तक पहुंचानें—से रोकना है, या अपने सत्य को उसके लिए स्वागत न करने योग्य रूप में प्रकट करना है।

सत्य के साथ खिलवाड़ करना अपन अस्तित्व के साथ खिलवाड़ करना है और अपने विनाश को निमन्त्रण देना है।

सत्य की आंच जब हमको जलाती हुई प्रतीत होती है, तब वास्तव में वह हमको नहीं, हमारी बुराइयों और गन्दगियों को जलाती है।

जब हमारे दोष, बुराइयां और गन्दगी प्रकाश में आती हैं तो खुश होकर ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिए कि प्रकाश-किरणों से उन्हें मिटने का मार्ग मिल गया है।

जिन्हें दूसरों के दोषों और गन्दगियों की चर्चा करने में आनन्द आता है, समझ लो; उन्होंने अपने दोषों की ओर दृष्टि-पात नहीं किया है।

सत्य में गूढ़ता नहीं होती। सत्य सूर्य-प्रकाश की तरह स्पष्ट, प्रकट और सरल होता है। सत्य से यदि भय उत्पन्न हो तो समझ लो असत्य तुम्हें दबा रहा है।

हमारी सफलता और हमारी विजय उसी अंश तक होगी जिस अंश तक सत्य हमारे जीवन का धर्म बन गया होगा।

सत्य-भाषण ही 'सत्य' नहीं है—व्यक्तिमात्र और वस्तु-मात्र में सत्य को शोधना और सत्य का अवलम्बन करना ही सत्य की आराधना है।

सत्य की आराधना सत्य के ही द्वारा हो सकती है। अ-कलुषित और मुक्त अन्तःकरण में ही सत्यकी प्रतीति हो सकती है।

जहां स्वार्थ और अहंकार नहीं है और सर्वार्पण की भावना है; वहीं सत्य का प्रकाश समझो।

शंकाशीलता और श्रद्धा दोनों का निवास एक जगह नहीं हो सकता। एक असत्य व दूसरा सत्य का रूप हैं। दोष-दृष्टि से शंकाशीलता और शंकाशीलता से जगत् के प्रति अनुदारता उत्पन्न होती है।

शंकाशीलता विनाश की दुन्दुभी है और श्रद्धा अमरता का दूध।

सत्य को मधुर अर्थात् अहिंसा-मिश्रित बनाना एक बात है, और सत्य कहते हुए डरना दूसरी बात है।

यदि झूठ बोलने से बचना है तो पहले अत्युक्ति से बचो। बात रसमयी हो, इससे ज़्यादा जरूरी यह है कि वह सत्य हो।

यदि तुमने अपने सत्य के साथ अहिंसा की रसायन मिला दी है तो तुम्हारी बात में रस हुए बिना नहीं रह सकता।

कोरा कटु सत्य—सत्य की एकांगी उपासना है। यदि मेरा सत्य किसी को कटु लगता है, तो क्या मुझे इस सत्य की तरफ़ से आंख मूंद लेनी चाहिए? यदि हां, तो फिर मेरे उस सत्य-प्रयोग का प्रयोजन क्या रहा। यदि नहीं तो फिर मेरे सत्य के रूप में सुधार का प्रश्न उपस्थित होगा ही। यही अहिंसा का स्थान है।

यदि सत्य की साधना करनी है तो गफलत व उपेक्षा की

गुंजाइश नहीं रह सकती। ये दोनों सत्य से मुड़ाने के साधन हैं।

गफलत का अर्थ है—आते हुए सत्य का स्वागत न करना, व जाते हुए सत्य को रोक न पाना; उपेक्षा का अर्थ है—जान-बूझ कर सत्य की यथार्थ कीमत न आंकना।

सत्य नित्य नूतन और प्रतिक्षण विकासशील है। वह उसी अर्थ में स्थिर या स्थित है जिस अर्थ में कि हमें पृथ्वी स्थिर या स्थित दीखती है।

जब वैभव और विभूति से मुंह मोड़ लेने का बल आने लगे तब साधना में सफलता मिलने लगती है। जबतक किसी विभूति के लिए प्रयत्न करते हो तबतक अपने को सत्य-पथ से भटका हुआ समझो।

सत्य में भस्म कर देने वाली आग है—परन्तु किसे ? असत्य को। सत्य सत्य को भस्म नहीं कर सकता।

जिनको सत्य में भस्म कर देने वाली आग ही दिखाई पड़ती है, उसका मधुर मुग्ध आकर्षण नहीं, वे सत्य से दूर हैं।

शेर का बच्चा शेर की भयंकरता और हिंस्रता से नहीं डरता, किलक-किलक और उछल-उछल कर उसके गले से लिपटता है, उसी प्रकार सत्य का अनुयायी सत्य की प्रचंडता से नहीं घबराता, उल्टा उसके पास दौड़-दौड़ कर जाता है।

जबतक मुझे यह कहने की जरूरत पेश आती है कि यह बात दूसरे से नहीं कहना, तबतक मेरे सत्य-पालन में ही कहीं कचाई है।

जो सत्य-पालन पर ही तुला हुआ है उसके विवेक का विकास या शुद्धि हुए बिना नहीं रह सकती। चारों तरफ सत्य देखने, व सत्य का निर्णय करने की वृत्ति से ही विवेक का विकास हो सकता है।

मैं अक्सर कहा करता हूं कि भाई कम-से-कम आपस में तो सरल सत्य व्यवहार रखना चाहिए। एक मित्र ने कहा—'दुश्मन के सामने तो और भी सीधा साफ होकर जाना चाहिए।' सच है, यदि हमें अपनी कीमत बढ़ानी है, व दुश्मन को दोस्त बनाना है तो उसका बेहतरीन तरीका यही है।

जहां भी तुम सच्चा व्यवहार करोगे वहीं जीवित रहोगे। झूठ का सहारा लेने के पहले ही तुम मर चुके होते हो।

जो अपने विरुद्ध किसी के भावों के प्रकाशन, या प्रचार से डरता है, वह सत्य को अपने पास आने से रोकता है। जो उसकी शिकायत करता है वह मानों अपनी कमजोरी को स्वीकार करता है।

जो असत्य बातों का, किसीको गिराने की ही दृष्टि से

प्रचार करता है, वह अपने को अन्धे कुए में गिराता है। उसकी अपेक्षा, बहुत हुआ तो अपनी तरफ से बहुत ही शिष्टता के साथ सत्य-निवेदन, उसका एक-मात्र उपाय है।

जब मैं अक्षरार्थ पर जोर देने लगूं तो समझना चाहिए कि सत्य मुझसे दूर चला जा रहा है। अन्तर्दृष्टि के विना भावार्थ से प्रेम नहीं होता।

'सत्य' और 'गुट' ये परस्पर विरोधी हैं। गुट वाहर की आंच और प्रकाश को सहन नहीं कर सकता। सत्य तो स्वयं प्रकाश और आंच ही है।

स्वभाव की या चित्त की अस्थिरता और अव्यवस्थितता हमारे सत्य के ही किसी बिगाड़ की सूचना है।

एक मित्र ने पूछा—'मैं मन में तो डांवा-डोल हो रहा हूं, किन्तु उनपर यह असर रहने दिया है कि मैंने निश्चय कर लिया है, तो अब क्या करूं?' मैंने उत्तर दिया—'तुम अपने तईं सच्चे रहो। अपनी वास्तविक स्थिति उनपर प्रकट करके उनसे क्षमा मांगो।'

एक सज्जन ने कहा—'अ' चोखा आदमी नहीं है। 'वह अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा करते हैं।' पहले तो मुझे बुरा लगा कि यदि वह निन्दक हो तो सज्जन की शिकायत ठीक थी, दूसरे

ही क्षण खयाल आया कि सज्जन पूरे परीक्षक हैं। स्तुति में भी अत्युक्ति का होना सत्य से दूर जाना है।

सत्य पर चलने वाला जरा भी टेढ़ा चला कि ठोकर खाई। यही उसका सौभाग्य है। यह उसपर ईश्वरी कृपा है।

यदि मुझे कर्त्तव्य-पालन के सिवा किसीसे कोई दिलचस्पी नहीं है, तो फिर किसी के लिहाज-मुलाहिजे में आने या भय-भीत होने की क्या जरूरत है?

केवल कर्त्तव्य-पालन करके छूट जाना है तो नग्न व अप्रिय या कटु सत्य ठीक है, यदि अभीष्ट परिणाम लाना है तो मृदु, मधुर, सत्य को स्थान देना पड़ेगा।

जहां कहीं मैं असत्य की ओर से आंख मूंदता हूं वहां मैं अपनी दृष्टि में अपनी मर्यादा को स्वीकार करता हूं व दूसरों को असत्य से घृणा करने से रोकता हूं।

सिद्धान्त क्या है? अनुभूत तथ्य या नियम।

यदि स्वयं मेरी सत्य पर अटल श्रद्धा नहीं है, तो मैं असत्या-चारियों को कैसे सत्य-भक्त बना सकूंगा?

यदि कोई बात मुझे कड़ुई लगती है तो मुझमें उसमें से सत्य को शांति के साथ ढूंढने व ग्रहण करने की शक्ति का

अभाव है। यदि मेरी वृत्ति ढूंढने की है तो टेढ़ी-मेढ़ी, अच्छी बुरी, सब चीजों में से सत्य ढूंढ लूंगा और उस अंश तक आनन्दित एवं कृतज्ञ होऊंगा।

जब परस्पर विरोधी कर्त्तव्य, स्नेह, हिताहित की समस्याएं असमंजस, दुविधा या चिन्ता में डाल देती हैं तो सत्य के बराबर अचूक व सुगम पथ-दर्शक नहीं है। तू दृढ़ता से सत्य को पकड़ रख; बौछारों, कठिनाइयों, स्नेहभंग आदि से मत डर। तुझे न केवल मार्ग सूझेगा, बल्कि शान्ति भी मिलेगी और स्नेह-भङ्ग भी अधिक समय तक न ठहर सकेगा।

जब मैं स्नेह, मोह, लोभ से प्रभावित होता हूं तो जिधर जाता हूं उधर से कांटे चुभने लगते हैं। जब सत्य की शरण जाता हूं, तो मानो कांटे चुभने बन्द हो जाते हैं, या उन्हें हंसते-हंसते सहने का बल मिलने लगता है।

तुम जैसे हो वैसे ही जगत् को देखने दो। सभ्यता और शिष्टाचार के खातिर लंगोटी पहन लेने की इजाजत तुम्हें है।

पहले मैं डरता था कि यदि असत्य अधिक है और सत्य थोड़ा है तो असत्य उसे दबा लेगा, अब अनुभव से देखता हूं कि असत्य तो फूस की तरह उड़ने वाला है और सत्य की एक चिनगारी भी उसे भस्म कर देने में समर्थ हो जाती है।

परन्तु सत्यार्थी के लिए यह काफी नहीं है कि वह चिन-

गारी को ही लिये बैठा रहे । जब तक पूर्ण सत्य का प्रकाश नहीं होगा तब तक असत्य दब-दब कर छिप-छिप कर, कोनों-कुचरों से वार करता ही रहेगा ।

सात्विकता कर्त्तव्य-पालन के लिए लड़ती है । रजोगुण राग-द्वेष के वशीभूत होकर और तामसिकता दूसरों को हानि पहुँचाने के उद्देश से ।

सात्विकता का शस्त्र है क्षमा-शीलता और सहन-शीलता से युक्त असहयोग । राजसिकता का है प्रत्याघात और तामसिकता का विध्वंस, विनाश ।

सत्याग्रही योद्धा है । पर जबरदस्ती किसीके सिर पर चढ़ने वाला नहीं । वह तभी लड़ता है जब मजबूर कर दिया जाता है ।

सत्याग्रही अपने निश्चित आदर्श की ओर निश्चित पथ से कदम बढ़ाते हुए चला जाता है, जब कोई उसकी टांग पकड़ता है या रास्ते में कांटे-कंकर बखेरता है तो उनसे वह डरता और घबराता नहीं, बल्कि उन्हें हटाते हुए आगे बढ़ता है, यही उसकी लड़ाई है ।

कांग्रेस से देश बड़ा है, और सत्य देश से बड़ा है । इस लिए एक सत्याग्रही किसी कांग्रेस-भक्त या देश-भक्त से कम कांग्रेसी या देश-भक्त नहीं है । फर्क इतना है कि यदि सत्य

सामने नहीं है तो कांग्रेस या देश का भक्त भूल कर सकता है।

सत्य मानव-जीवन का सिद्धान्त है। देश मर्यादित मानव-समूह का संगठन है और कांग्रेस भारत के स्वराज्य के लिए लड़ने वाली संस्था है, जो देश से भी छोटा संगठन है।

कांग्रेस का कुछ मूल्य नहीं है, यदि वह आज स्वराज्य में विघ्न डालने वाली संस्था बन जाय; देश का कोई अर्थ नहीं है यदि वह अपने अधिवासियों के दुःख का ही कारण बनता रहे। कांग्रेस और देश भूल और भटक सकते हैं; किन्तु सत्य में न तो च्युति है, न विनाश का भय।

मैं जितना ही ढोंग करता हूं उतना ही जगत् को नहीं, अपनेको ही धोखा देता हूं। क्योंकि जगत् की दृष्टि मेरी ओर रहेगी और मेरी जगत् की ओर। जगत् मुझे हजारों आंखों से देखेगा, मैं उसे सिर्फ दो आंखों से ही देख सकूंगा।

यदि मैं सबसे सत्य का ही सम्बन्ध रखना चाहता हूं तो मेरा जीवन सबके लिए खुली पुस्तक रहना चाहिए। मेरे नजदीक अपनी कोई 'गुप्त' या दूसरे से न कहने योग्य बात नहीं होनी चाहिए।

सत्य में अहिंसा मिलानी नहीं पड़ती; मिली हुई ही रहती है। जबतक जगत् की मुझे अपेक्षा है तबतक अहिंसा सत्य से

अलग नहीं हो सकती ।

जब जगत्-भाव नष्ट हो गया—केवल आत्मभाव बच रहा, तब अहिंसा सत्य से उसी प्रकार विलग हो जाती है, जैसे पक जाने पर फल वृक्ष से अपने-आप टपक पड़ता है ।

जो अपनी सत्व-रक्षा नही कर सकता, वह दूसरों की तो कर ही नहीं सकता; इसी तरह जो दूसरों की चिन्ता नहीं रखता, वह भी आगे चल कर सत्व खो बैठता है ।

यदि तू सत्य का ही उपासक है तो फिर इतना शंकाशील क्यों रहता है ? क्या सूर्य के मन में कभी यह शंका आती है कि कोई मुझपर कीचड़ उछालता होगा ?

जबतक तेरे हृदय में ईर्ष्या-द्वेष है, तबतक तुझे शान्ति नहीं मिल सकती । शांति सत्य के अवलम्बन में है. ईर्ष्या-द्वेष रूपी कुहरा सत्य-रूपी सूर्य के तेज और प्रकाश को मलिन कर देता है ।

जबतक सत्य का तेज या प्रभाव कम है तभीतक कोई बात आग्रह के साथ कहनी पड़ती है और आग्रह रखना पड़ता है । सत्यमय हो जाने पर तो सब कार्य स्वभावतः ही होते हैं ।

सत्य के प्रादुर्भाव का सबसे पहला लक्षण है निर्भयता और दूसरा लक्षण है, अहिंसकता ।

जहां सत्य है, वहां आतुरता नहीं हो सकती। जहां सत्य है, वहां अशान्ति क्यों ?

यदि तू सत्य का ही उपासक है तो दुनिया के वैभव, विभूतियां तेरे सामने अपने-आप आती चली जायंगी; किन्तु तू उन्हें मुसकरा कर अस्वीकार करता चला जायगा।

ईश्वर जब कि सर्वसाक्षी, सर्वान्तर्यामी है तो फिर कोई बात उनसे छिपाकर कहां रक्खोगे ? भला इसीमें है कि मनुष्य उनके सामने सरल भाव से अपना हृदय खोल दिया करे।

जिसने सत्य का रास्ता ग्रहण किया है, जो प्रत्येक मनुष्य में ईश्वर का अंश देखता है, उसे मनुष्य का इतना भय व अन्देशा रखने की क्या आवश्यकता है ?

यदि तू सत्यवादी रहना चाहता है तो मौनी बनने का यत्न कर।

सत्याग्रही का अर्थ है भीतर-बाहर एक-सा होना। जो भीतर बाहर एक-सा है उसके पास 'गुप्तता' नहीं रह सकती; और जहां गुप्तता ही नहीं है, वहां उसके प्रकट हो जाने का क्या भय ?

सत्याग्रही अपनी अक्षमता के कारण दूसरों के सम्बन्ध में बहुत से बहुत हुआ तो उदासीनता रख सकता है। उपेक्षा व

तुच्छता का भाव तो उसके पतन के ही लक्षण हैं।

एक ने कहा—'तुममें या तुम्हारी पद्धति में अमुक दोष हैं।' उसने उलट कर उत्तर दिया—'यह दोष तो आपमें या अमुक में भी तो हैं;' यह सत्याग्रही वृत्ति नहीं। इसमें इस बात का कि तुम मेरे दोष क्यों बताते हो; उपालम्भ ही नहीं, विरोध भी है।

सत्याग्रही को अपने अस्तित्व की क्या चिन्ता ? सत्य ही उसका अस्तित्व, सत्य ही उसका आधार, सत्य ही उसका तीर और सत्य ही उसका कवच है । जिसमें सत्य है उसमें क्या नहीं है ?

सत्याग्रही अपनी आत्मा पर दृष्टि रखकर चलेगा, इसका अर्थ यह नहीं कि वह जगत् की उपेक्षा करेगा; बल्कि यह कि आत्मा में ही जगत् को देखता रहेगा।

'शिवम्'

हिंसा व अहिंसा मन की भावना–मन की दशा है। परमात्मा जब सृष्टि-रूप हुआ तो एक से दो नहीं अनेक रूप होगया। उसके ये विशेष रूप एक दूसरे से टकराते हैं तो हिंसा की, और जब मिलते हैं तो अहिंसा की भावना दर्शाते हैं।

टकराना अस्वाभाविक और मिलना स्वभाविक व असली प्रवृत्ति है।

जब मूल को गौणता तथा ऊपरी भेदों को महत्त्व देते हैं तो परस्पर टकराते हैं, जब मूल को पकड़ रखते है और बाह्य भेद-भाव की परवा नहीं करते तब एक-दूसरे से मिलते हैं।

जब मूल को भूल जाते हैं और भेदों को असल मानने लगते हैं तब हिंसा अत्याचार बन जाती है। विश्व की विविधता जब प्रेम के बदले भय उपजाती है, तब अहिंसा कायरता हो जाती है।

अत्याचार व कायरता एक सिक्के के दो पहलू हैं। कायर स्व-रक्षा में अत्याचारी बनता है। अत्याचारी बड़े अत्याचारी के सामने कायर हो जाता है।

अत्याचारी व कायर दोनों का मूल-विश्वास एक ही होता है। बाह्य या भौतिक साधनों से रक्षा करना हिंसक का विश्वास होता है और आत्मबल से रक्षा करना अहिंसक का।

भौतिक बल की तात्कालिक तीक्ष्णता हिंसक को फुसलाती और फंसाती है। आत्मिक बल की सतत निश्चित सफलता अहिंसक को उत्साहित करती है।

शस्त्र बल का नहीं, भय का चिह्न है। क्षमा कमजोरी नहीं शौर्य है। शस्त्र दबाता है, क्षमा उठाती है।

हिंसा दोनों पक्षों को पशु और अहिंसा मनुष्य बनाती है, हिंसा विकृति और अहिंसा संस्कृति है।

सृष्टि समाप्त हुई तो हिंसा-अहिंसा भी समाप्त हुई। परमात्मा के पास हिंसा-अहिंसा की भाषा नहीं है, वहां द्वन्द्व है ही नहीं।

कायरता से हिंसा की ओर बढ़ना प्रगति, हिंसा से अहिंसा की ओर बढ़ना संस्कृति, व अहिंसा से आत्मा की प्रतीति करना मुक्ति है।

सत्य बड़ा कि अहिंसा ? आम बड़ा कि रस ?

हिंसा का सम्बन्ध आत्मा से नहीं, शरीर व मन से है। किसीके शरीर व मन को कष्ट न देना ही अहिंसा है। आत्मा के गुणों को शरीर व मन पर लागू करना अज्ञान है।

यदि मैं सत्य और अहिंसा को अपना अटल पथ-दर्शक मानता रहूंगा तो मेरे द्वारा दूसरों को कष्ट पहुंचने की सम्भावना कम होती जायगी।

मेरी अहिंसा उन्हें मेरी तरफ से कष्ट न पहुंचने देगी और मेरा सत्य उन्हें इस बात के लिए प्रेरित करता रहेगा कि वे अपने कष्ट व हानि का जिम्मेदार मुझे न समझें, खुद अपनेको ही समझें।

यदि किसी दुखी के लिए तुम्हारे पास सान्त्वना नहीं है तो अपने व्यङ्ग्य और उपहास से तो उसके कलेजे को मत छेदो वह अमृत की आशा से आया है—ज़हर तो उसे सांप और छिपकली से भी मिल सकता था।

कड़ुई बात कहना एक चीज है व लगना दूसरी चीज है। 'कहने' में जिम्मेदारी हमारी व 'लगने' में दूसरे की है।

जो अपने प्रति कठोर होता है वही दूसरों के प्रति उदार हो सकता है।

जहां व जहां तक विविधता है वहीं तक अहिंसा है व उसका महत्त्व भी है। जैसे-जैसे अनुभव एकता की तरफ बढ़ता है वैसे-वैसे अहिंसा अधिक शुद्ध होते हुए अपने मूलरूप-सत्य—में छिपती या घुसती जाती है। इसी को आत्मैक्य का अनुभव कहते हैं।

यह सिद्धि या स्थिति यांत्रिक नहीं, सहज व स्वाभाविक विकास का परिणाम है। कोरे चिन्तन या ध्यान से नहीं, बल्कि गुणोत्कर्ष से प्राप्तव्य है।

चींटी या मकड़ी हमारे सारे वदन की यात्रा कर आती है, पर हमें उसका पता नहीं चलेगा। इसी प्रकार अहिंसा-मार्गी का जीवन इतना हलका होना चहिए कि उसका बोझ समाज में किसीको अनुभव न हो।

जब हमपर कोई चोट करता है, तब उसपर नई या पुरानी बातों को लेकर चोट करना प्रतिहिंसा है। कर्त्तव्य-वश विरोध इससे भिन्न है। 'कर्त्तव्य-वश' की सच्ची कसौटी यही है कि हमारे व्यक्तित्व पर हुए आक्रमण से उसकी उत्पत्ति न होनी चाहिए।

प्रतिहिंसा में उलटा वार किया जाता है, असहयोग में अपने को सिर्फ बचाया जाता है।

तीखे व्यंग्य से रोष व मधुर व्यंग्य से स्नेह टपकता है।

विनोद मधुर व्यंग्य का ही दूसरा नाम है ।

वस्तु के सम्बन्ध में नग्न सत्य, व व्यक्ति के सम्बन्ध में मधुर सत्य का अवलम्बन सफलता का राज–मार्ग है ।

जब मैं स्वयं न भिड़कर दूसरों को भिड़ाता हूं तो अपनी खाल बचा कर दूसरों को घोर हिंसा में ढकेलता हूं व उनके साथ भी हिंसा करता हूं ।

जबतक चोट पहुंचाने में रस है, तबतक दुष्टता बाकी है, जब तटस्थता हो तो हिंसा का अभाव सूचित होता है, जब मन को दुःख होने लगे तो मानवता का उदय है; जब चोट के जवाब में सुख पहुंचाने लगो तो साधुता का चिह्न है ।

किसीको बनाना उसकी मूर्खता पर आनन्द मनाना है । यह उसके प्रति समभाव नहीं, अपने प्रति विशेष ममता है ।

जब मैं अपने विरोधी, प्रति-पक्षी, या प्रतिवादी से शिष्टता या नम्रता का व्यवहार करता हूं, और साथ ही अपने मित्रों, साथियों या कुटुम्बियों के प्रति उदासीनता या निश्चिन्तता का, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं विरोधी की खुशामद करता हूं, या उससे डरता हूं, अथवा अपने मित्रों-आदि के प्रति अपने कर्त्तव्य या सौजन्य की उपेक्षा कर रहा हूं । उसका सच्चा आशय तो यह है कि चूंकि विरोधी को मुझे अपने नजदीक लाना है, अतः उसे कोई अवसर अपनी जान में गलतफहमी

को नहीं देना चाहता, और चूंकि मित्रों आदि के सम्बन्ध में यह अन्देशा नहीं रहता, इसीसे उनके साथ जाहिरदारी नहीं की जा सकती, न वह सुशोभित हो सकती है।

यदि वह खुशामद हो तो एक तो उससे मेरा कोई स्वार्थ साधना का आशय होना चाहिए, दूसरे मुझे स्वाभिमान की कमी व तीसरे भय का सञ्चार होना चाहिए।

यदि मित्रों आदि के पक्ष में उपेक्षा भाव हो तो उनकी कठिनाई व संकट के अवसर पर उसकी परीक्षा हो सकती है।

स्वजनों के प्रति उपेक्षा हिंसा का चिह्न है: विरोधियों के प्रति उपेक्षा अहिंसा की तरफ प्रयाण है।

जबतक मुझसे कोई डरता व आतंकित रहता है, तब तक मुझमें हिंसा का अस्तित्व अवश्य होना चाहिए। जब बच्चों पर क्रोध न आये, बीवी पर गुस्सा न उतरे तब समझो कि अहिंसा की दिशा में कदम बढ़े हैं।

सपने में एक खिड़की से मैंने एक शेर को अपनी तरफ लपकते हुए देखा, मैंने तैश में खिड़की उखाड़ कर उसके सिर पर दे मारी। जगने पर मैंने नतीजा निकाला—भगोड़ा नहीं तो अभी अहिंसक भी नहीं हूं।

हजरत अली ने खुदा के नाम पर अपने मुखालिफ को

पछाड़ दिया। जब उसने अली के मुंह पर थूक दिया तो उन्होंने उसे कत्ल करने का इरादा छोड़ दिया व उसकी छाती पर से उतर पड़े। मुखालिफ ने सबब पूछा तो बताया—पहले मैं खुदा के लिए तुझे कत्ल करना चाहता था, अब तूने जो मुझपर थूक दिया इससे मेरा व्यक्तिगत द्वेष उभर सकता है। उससे उत्तेजित होकर तुझे मारूँगा तो वह गुनाह होगा।

जबतक तुझे दूसरे की फजीहत पर गुदगुदी होती है, तबतक तुझमें दुष्टता बाकी है।

जबतक गल्ती करने वाले के प्रति तेरे मन में कठोरता है तबतक तू साधु नहीं हुआ।

किसीका दिल न दुखने देना अहिंसा-वृत्ति अवश्य है, किन्तु वह अहिंसा की परिभाषा नहीं हो सकती। मेरे अधिकार में सिर्फ इतना ही है कि मैं अप्रत्यक्ष रूप से भी किसी का दिल न दुखाऊं, परन्तु उसके स्वभाव और संस्कारों पर तो मेरा काबू एक हद तक ही चल सकता है।

———

: ४ :

'सुन्दरम्'

ब्रह्म-रस का नाम प्रेम है। वह जब शरीर के सम्बन्ध से दूषित हो जाता है तो 'काम' कहलाता है।

भावना, ज्ञान व क्रिया दोनों में मिली प्रेरणा-शक्ति है। जब इसका रूप आकर्षक हो जाता है तब वह प्रेम कहलाती है।

दो सत्ताओं का अद्वैत की ओर प्रयाण या प्रवृत्ति प्रेम है। पूर्ण अभेद या अद्वैत-सिद्धि उसका लक्ष्य या गन्तव्य स्थान है।

भक्ति प्रेम का आत्म-समर्पण-प्रिय रूप है। प्रेम में समता का भाव है, भक्ति में अपनी अल्पता की चेतना है।

जो प्रेम शरीराकांक्षी है वह तुच्छ व सुख-दुःख-मय है; जो आत्मकांक्षी है, वह सुखमय व स्थायी है।

प्रेम आकर्षण है मिलन का। चैतन्य-सिन्धु की लहरें फटीं, बूंदें छिटक पड़ीं। वे एक-दूसरे से मिलने दौड़ती हैं। सिन्धु में समा जाने के लिए ललकती हैं। जिस वल से वे एक-दूसरे की ओर समुद्र की ओर आकर्षित होती हैं, वही प्रेम है यह आकर्षण मिलन के लिए होता है।

बूंदें जव मिलकर अपना फल पीछे छोड़ जाना चाहती हैं, तव प्रेम काम वनने लगता है। प्रेम मिलन के लिए और काम सृजन के लिए है। मिलन स्वभाव-सिद्ध है, अतएव निष्काम है। सृजन प्रयत्न-साध्य है, अतएव सकाम है। सकाम प्रेम ही काम है।

आलिंगन प्रेम है, मैथुन काम है। मिलन के लिए आलिंगन प्रेम है। सृजन या मैथुन के लिए आलिंगन काम है।

वच्चों का सरल पवित्र आलिंगन प्रेम है। युवक-युवती का सकाम सविकार आलिंगन काम है।

काम स्वत: त्याज्य या हेय नहीं। जव सृजन की कामना न हो, तव काम अनावश्यक अतएव वर्ज्य है। जहां सृजन की इच्छा नहीं वहां काम का काम नहीं। जब सृजन की कामना रोकी नहीं जा सकती, तव काम आवश्यक कार्य या कर्त्तव्य हो जाता है।

प्रेम अमर्याद है, क्योंकि वह स्वभाव-सिद्ध है। काम की

सीमा है, क्योंकि वह निश्चित फल निकालना चाहता है। प्रेम में मिलन ही आनन्द है, काम में सृजन की कामना ही तृप्ति है। अतः प्रेम निर्दोष आनन्द है और काम सकाम कर्त्तव्य है।

सृजन की कामना से आगे बढ़कर जब काम शारीरिक सुख की चाह में फंसता या पड़ता है तब वह वासना, कामुकता, भोग, विलासिता बन जाता है।

वासना जब नीति, समाज और सदाचार की मर्यादा छोड़ देती है, तब व्यभिचार कहलाती है। वासना जब एकनिष्ठ नहीं रहती तब व्यभिचार बन जाती है।

प्रेम एक प्रबल प्राकृतिक आकर्षण है, पर काम एक कामना का वेग है। मिलन प्रेम का धर्म है और सृजन काम का कर्त्तव्य है। वासना या भोग एक विकार है और व्यभिचार एक दुराचार। वासना का फल है बन्धन और व्यभिचार का पतन।

प्रेम से काम, काम से वासना, वासना से व्यभिचार—यह पतन का क्रम है; प्रेम से मिलन, मिलन से निर्दोष सात्विक मानसिक या सहज आनन्द और आनन्द से आत्म विस्मृति, आत्मार्पण—बिन्दु का सिन्धु में लीन हो जाना, उत्थान का क्रम है।

आनन्द मानसिक संस्कार है, रस इन्द्रिय-सुख की धारा। सृष्टि अव्यक्त आत्मशक्ति की व्यक्त कला है। आत्मशक्ति में स्फुरणा हुई। उसके चैतन्य ने पार्थिव रूप ग्रहण किया। कवि ने इस स्फुरणा को आनन्द कहा। सृष्टि में जो विविधता, विचित्रता, अद्भुतता, मनोरमता, व्यवस्थितता, चित्ताकर्षकता या मनमोहकता है, वही विधाता की कला है।

मानसिक आनन्द जब पार्थिव होने लगता है, तब रस बन जाता है। कला आनन्द से जन्म लेकर रस में बहती हुई फिर आनन्द में विराम पाती है। यह कवि की भाषा हुई। आत्मतत्त्व सृष्टिरूप में व्यक्त हो कर फिर अपनेमें लय पाता है यह तत्त्वदर्शी या ज्ञानी की भाषा है।

सौन्दर्य आनन्द और रस का आधार है। सृष्टि का यह सारा वैभव, प्रकृति का अनुपम रूप-लावण्य, सौन्दर्य का उपादान है। इस वैभव का जो सामूहिक, शान्त, मृदुल, मधुर स्निग्ध, रम्य एक प्रकार से अनिवर्चनीय प्रभाव मन पर पड़ता है, वही सौन्दर्य है। सौन्दर्य से जो अनुकूल वेदनाएं मन में होती हैं, वह आनन्द है। आनन्द जब शरीर-विषयक या रूप-लुब्ध होता है, तब रस हो जाता है। रस में आनन्द की अतिशयता और निरन्तरता होती है।

फूल रचयिता की सृष्टि है। इसका रूप, इसकी छटा, इसकी सुगन्ध, इसकी सुकुमारता, इसका रस, यह सब इसका

सौन्दर्य है और यही रचयिता की कला है। सृष्टि-सौन्दर्य या सृष्टि-कौशल कला है।

फूल के सौन्दर्य या कला के गुण को मन से अनुभव करना आनन्द है, इन्द्रियों द्वारा अनुभव करना और करते रहना रस है। आनन्द को आत्मिक और रस को लौकिक कहें। रस में भोग और आनन्द में ज्ञान है। आनन्द से रस की ओर अधःपात है, रस से आनन्द की ओर रुचि, उन्नति या प्रगति है।

प्रेम उत्सुक होता है, ज्ञान विरक्त।

प्रेमी के लिए रस है, आनन्द है; ज्ञानी के लिए मनो-रञ्जन है, खेल है।

प्रेम डूबता है, ज्ञान तरता है।

विषयों से ध्यान हटाने की शिक्षा निषेधात्मक है; ईश्वर में मन लगाना विधेयात्मक है। निषेधात्मक जब काफी न हुई तो विधेयात्मक का प्रचार हुआ। यही भक्तिमार्ग है।

कला-सौन्दर्य के भावों के पोषण या रक्षण या सन्तोष के लिए भगवान् के सुन्दर रूप की सृष्टि हुई है।

अन्तःकरण पर आत्मा का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वही

वस्तु में सौन्दर्य दीखता है।

यों तो संस्कार सौन्दर्य-निर्माण करते हैं; परन्तु सौन्दर्य का मूल आत्मा में ही है। 'आनन्द' गुण से सौन्दर्य का जन्म हुआ है। सामञ्जस्य उसका रूप है।

जब मैं तुझे पा गया तो तेरे शृङ्गार की मेरे लिए क्या कीमत रही ?

जब मैं कहता हूं कि मुझे तेरी चाह है तो तू डरने लगता है ; क्योंकि तूने अपने बाह्य को ही सब-कुछ समझ रखा है।

यदि तूने अपने हृदय को खुला कर दिया है तो फिर कौन ऐसा मूर्ख होगा जो तेरे बाह्य में उलझता रहे ?

केवल और स्वतन्त्र आनन्द नामक कोई वस्तु जगत् में नहीं है। उसके नाम से हम सूक्ष्म विलास की ही पूजा और साधना करते हैं।

आनन्द व मनोरंजन के नाम पर प्रचलित काव्य, कला, सौन्दर्य, चतुर विलासिनी रमणी की उपमा के योग्य हैं।

जीवन की साधना व रमणीयता में कोई खास नाता नहीं है। रमणीयता साधना की नहीं, बल्कि साधना रमणीयता की कसौटी है।

आनन्द बहा ले जाता है; शान्ति किनारे लगा देती है। आनन्द में रस व मद है; शान्ति में समाधान व सुख है। आनन्द इन्द्रियों को उत्तेजित करता है; शान्ति उनके आवेगों को अपने उदर में समा लेती है।

आनन्द चंचल और शान्ति अचल है। आनन्द उफान है; शान्ति स्थिर सम्पत्ति है।

आनन्द-भोगेच्छा हमसे पाप करवाती है और मिथ्याभिमान उसे स्वीकार करने से रोकता है।

असंयम आत्मा पर इन्द्रियों की विजय है; संयम इन्द्रियों पर आत्मा की मुहर है।

आनन्द में एक प्रकार का मीठा नशा होता है, उसके निकल जाने पर वह शान्ति हो जाता है।

आनन्द दुःख को पास नहीं आने देना चाहता, शान्ति दुःख को हजम कर जाती है।

शरीर तो आनन्द का साधन है, उसका भोक्ता मन है। जब मन को ही आनन्द का साधन भी बना लिया जाय तो वह आनन्द सात्विक हो जाता है।

आनन्द का विषय भी यदि शारीरिक नहीं बल्कि मानसिक

है तो उसे शुद्ध आनन्द कहना चाहिए। उसमें व ब्रह्मानन्द में थोड़ा ही अन्तर हो सकता है।

ब्रह्मानन्द में मन व मानसिक विषय की भी स्थिति नहीं रहती है—केवल आनन्द शेष रहता है, जो कि अन्त में शान्ति में समा जाता है।

जबतक आनन्द के लिए विषय का स्मरण भी शेष रहता है तबतक उसके दूषित हो जाने का अन्देशा समझो।

आनन्द स्वभाव-धर्म उसी दशा में बन सकता है जब चित्त में पूर्ण समता आ जाती है। द्वन्द्व का, व इसलिए संघर्ष का, राग-द्वेष का, लेश नहीं रहता। जब मनुष्य मानसिक स्वार्थ भी छोड़ देता है तभी इस स्थिति को प्राप्त होता है।

आंखें मींचकर नहीं, आंखें खोलकर आनंदित रहना ही सच्ची ब्राह्मी स्थिति या सिद्धि है। "मूंदहुं नयन कतहुं कोऊ नाहीं", नहीं; बल्कि "आंखि उघारि सकल जग देख्यो" उसका मन्त्र है।

चिन्तन का मतलब है समस्या हल नहीं हुई। आनन्द का अर्थ है—संघर्ष या मन्थन का अभाव।

बुद्धि या चिन्तन के पहले का आनन्द बालकोचित; बाद का आनंद ज्ञानी-जनोचित।

अपनी सिद्धि या शान्ति-जात आनंद अधूरा है। पर-सुख-जनित आनन्द सम्पूर्ण है।

आनन्द तल्लीनता में है, विषय में नहीं।

कामानन्द स्त्री-विषयक तल्लीनता से होता है; मानसिक तल्लीनता शरीर की नसों में एकतानता उत्पन्न करती है, इसी से शरीर सुखानुभव करता है। ध्यान में भी शरीर व मन को एक प्रकार का सुखानुभव होता है। यह तल्लीनता का ही फल है।

जबतक मनुष्य की सब समस्याएं सुलभ नहीं जातीं तब-तक अमिट स्मित उसके चेहरे पर नहीं रह सकता।

आनन्द उत्साह का व शांति ज्ञान का परिणाम है। आनन्द में उछलते हुए भरने का जीवन है; शांति में समुद्र की स्थिरता व गम्भीरता।

आनन्द उछलता-कूदता जाता है, शान्ति मुसकराती हुई चलती है। आनन्द के पांव में जब चोट लग जाती है, तो शान्ति उसपर सान्त्वना की पट्टी बांधती है।

दूसरे के दुःख से दुखी होना आत्मिक विकास का आरम्भ है, किन्तु अपनेको दुखी न होने देते हुए दुःख का इलाज दिलोजान से करना ज्ञान की परिणति है।

प्रेम का दरजा बल से ऊंचा है। बल जहां हारता है, प्रेम वहां जीतता है। बल-प्रयोग हराता है; प्रेम-प्रयोग सुधारता है।

स्त्री व पुरुष का भेद आत्मिक यानी तात्त्विक नहीं है, प्राकृतिक अथवा व्यावहारिक है। प्रकृति के परे पहुंचने पर ही इस भेद का लय हो सकता है।

स्त्री और पुरुष जब दो जातियां प्रकृति ने ही बनाई हैं, तब हम उनके भेद को भुला ही कैसे सकते हैं? आत्म-दृष्टि से ही हम उनमें एकता की कल्पना या अनुभव कर सकते हैं, शरीर-दृष्टि से नहीं।

बहन और भाई के प्रेम में पवित्रता है, पति और पत्नी के प्रेम में मादकता। पवित्रता शांति दिलाती है और मादकता व्याकुल कर देती है।

यदि ब्रह्मचर्य से नहीं रह सकते, विवाह कर लिया है और सन्तति की इच्छा है तो सम्भोग को एक पवित्र कर्तव्य और धर्म समझ कर करना चाहिए, चोरी और गन्दा काम समझ कर नहीं।

वे माता-पिता और युवक-युवती गलती करते हैं, जो विवाह तो करते हैं परन्तु उन शारीरिक अंगों, उनके कार्यों और कर्त्तव्यों के ज्ञान से वञ्चित होते हैं, जिनका विवाह से घनिष्ट सम्बन्ध है।

दाम्पत्य-जीवन आत्म-समर्पण और प्रेम-प्रदर्शन है। सम्भोग में ही प्रेम-प्रदर्शन की समाप्ति नहीं हो जाती।

निर्दोष प्रेम-प्रदर्शन में सच्चा आत्मिक आनन्द मिलता है। उपभोग प्रेम-प्रदर्शन नहीं है। उपभोग स्वार्थ है, प्रेम-प्रदर्शन एक सेवा है।

सुन्दर-कृति या कार्य का नाम कला है। विश्व की सुन्दर रचना ईश्वर की कला है। मानवी कला इसीके अंश को लेकर अवतरित होती है। ईश्वर का सौन्दर्य-पक्ष कला है; भाव-पक्ष साहित्य है, ज्ञान-पक्ष दर्शनविज्ञान है, क्रिया-पक्ष नीति व नाद-पक्ष संगीत है।

कला का अर्थ है सृष्टि; शास्त्र का अर्थ है चीर-फाड़; कला का अर्थ है हृदय; शास्त्र का अर्थ है बुद्धि। कला का अर्थ है सौन्दर्य, शास्त्र का अर्थ है उपयोग; कला का अर्थ है संयोग; शास्त्र का अर्थ है वियोग।

जबतक कला में रुचि है तबतक बाह्य जगत् का मोह है; जैसे-जैसे ज्ञान के प्रदेश में प्रगति होगी वैसे-वैसे एक सत्य ही सबसे अधिक प्रिय व रुचिकर होने लगेगा—स्पष्ट दीखने लगेगा कि कला तो केवल सत्य का शृङ्गार है।

प्रेम सत्य का स्नेहमय-रूप है। न्याय सत्य को समत्व-

भावना है। सम्यकत्व सत्य की सत्य-वृत्ति है, शान्ति सत्य का उपलब्धि-रूप है।

दया सत्य का मृदुल व करुण-रूप है; दण्ड उग्र व शासक रूप।

कला की उत्पत्ति कोमलता से है और कोमलता का जन्म अहिंसा की कोख से हुआ है।

कष्ट पहुंचाना पशुता है, कष्ट सहना मनुष्यता है।

सुन्दरता रूप में है, गुण में है, या देखनेवाले की आंखों में? यदि रूप में है तो लैला में कौन-सा रूप था? यदि गुण में है तो वेश्याओं के इतने उपासक क्यों हैं? इतने तलाक क्यों दिये जाते हैं? यदि देखनेवाले में है तो फिर वाह्य जगत् या साधनों की क्या आवश्यकता है?

सुन्दरता वहीं है जहां सत्य है, जहां शिव है। सत्य सदा कल्याणकारी होता है। मनुष्य को वही वस्तु सुन्दर मालूम होती है जिसमें उसका मन रम जाता हो—मन को आनन्द व शान्ति प्रतीत होती हो। आनन्द व शान्ति वास्तव में सत्य के ही परिणाम हैं। परन्तु स्थूल-बुद्धि मनुष्य उन्हें रूप आदि वाह्य साधनों में देखने लगता है। इसलिए वह विलासी वन जाता है। यदि वह उसकी तह तक पहुंच सके तो सच्चे सौन्दर्य का

उपभोग भी करेगा और उसकी वासना से भी दूर रहेगा।

विशुद्ध कलाकृति के लिए कलाकार का अन्तःकरण निर्दोष होना चाहिए।

अन्तःकरण की मलिनता को धोने के लिए, मलिन वासनाओं को मिटाने के लिए, सत्य की आराधना जरूरी है।

भौतिक वस्तुओं की आराधना उसे अधोमुख करेगी और क्षुद्रताओं से, राग-द्वेष से, ऊपर न उठने देगी।

हर जगह से सत्य को ही ग्रहण करने की वृत्ति उसे सत्य से भिन्न व नीची वस्तुओं के लोभ से हटाने की चेष्टा करेगी और इस क्रिया में उसका हृदय विशुद्ध होता जायगा। उसमें स्वार्थ, भोग, परोपकार आदि के संस्कार नष्ट होते जायंगे।

क्योंकि ज्यों-ज्यों वह सत्य की ओर आगे बढ़ेगा, त्यों-त्यों उसमें इतना आनन्द, सुख और परोपकार देख पड़ेगा कि स्वार्थ भोग आदि से उसका मन अपने आप हटता जायगा। इसकी साधना से मिलने वाला आनन्द या सुख बिलकुल क्षणिक, भ्रमपूर्ण और परिणाम में पश्चात्ताप-दायी मालूम होने लगेगा। इस तरह कलाकार जितना सत्यव्रती होगा उतनी ही उसकी कृति पवित्र व उज्ज्वल होगी।

कला कलाकार की सृष्टि है। वह अपने जीवन के सारे

सत्य को कलाकृति के रूप में जगत् को भेंट करता है। उसको कृति में जितनी ही सत्य की झलक होगी, सत्य का साक्षात्कार होगा, उतनी ही उसकी कला-सृष्टि दिव्य व अमर होगी। उतनी ही वह जगत् को स्फूर्ति, जीवन, चैतन्य, आनन्द और सुख देगी।

: ५ :

जीवन–सिद्धि

जीवन चैतन्य-कला है; आत्मा की ज्योति है।

भावना, ज्ञान व कर्म—तीन के योग से मनुष्य-जीवन पूर्ण होता है। भावना प्रेरणा करती है, ज्ञान से उसकी शुद्धाशुद्धता या योग्यायोग्यता की छान-बीन होती है, व कर्म से उसकी पूर्णता, सफलता या समाप्ति होती है।

उच्च, विशाल व शुद्ध भावना, सत्य ज्ञान व निष्काम तथा पवित्र कर्म—ये महापुरुष के लक्षण या सम्पत्ति हैं।

प्रवाह, वृद्धि और विकास मनुष्य-जीवन के गुण हैं न कि रुकावट, अचलता और बन्धन।

जीवन मुख्य है या शास्त्र? जीवन मुख्य है या कला? जीवन मुख्य है या सत्ता? जीवन मुख्य है या धन?

जीवन मर रहा है, रो रहा है, शास्त्रियों को बाल की खाल निकालने से फुरसत नहीं; शास्त्रों का पालन होना ही चाहिए; काव्य-कलानिधियों को स्वकीया-परकीयाओं की मजलिस में रास-क्रीड़ा करनी ही चाहिए, सत्ता की धौंस माननी ही चाहिए; धन को तीन दफा प्रणाम करना ही चाहिए !

प्रकृति के यहां जीवन-मरण का एक ही मूल्य है। एक के लिए हर्ष और दूसरे के लिए विषाद की जगह वहां नहीं है। दोनों उसकी उद्देश–पूर्ति के साधन हैं, और दोनों अनिवार्य, एक-दूसरे के पूरक हैं।

हमारे जीवन का दृष्टि-बिन्दु जबतक व्यष्टि-गत होता है तभी तक हमारे लिए जीवन-मरण हर्ष-शोक आदि होते रहते हैं। व्यष्टि से आगे बढ़कर दृष्टि जहां समष्टिगत हुई नहीं कि जीवन-मरण खेल दिखाई देने लगे नहीं।

जिस आदर्श में व्यवहार का प्रयत्न न हो वह मिथ्या है; जो व्यवहार आदर्श–प्रेरित न हो वह भयंकर है।

पूर्ण मनुष्य तो बड़ी बात है, मैं सन्मनुष्य या खाली मनुष्य ही बन जाऊं तो गनीमत है। जगत् का उपकार करना तो दूर, अपकार से भी बचा रहूं तो बहुत है।

मुक्ति तो बहुत ऊंची व बड़ी चीज है; चित्त की समता

जो उसका द्वार है, उसतक भी पहुंच पावें तो गनीमत ।

सुखमय जीवन स्वार्थ-मय जीवन है। दूसरों को किसी-न-किसी प्रकार का दुःख पहुंचाये बिना सांसारिक सुख नहीं प्राप्त हो सकता ।

कष्टमय जीवन दूसरों को सुख पहुंचाता है और उनके सुख की कल्पना से कृतकृत्य होता है ।

अपनी मर्यादा के ज्ञान से शान्ति तो मिलती है; किन्तु डर लगता है कि पुरुषार्थ मन्द न होजाय । जो पूर्णता चाहता है वह किसी मर्यादा को अमिट कैसे मान सकता है ?

पूर्णता के अभाव में जो अशान्ति रहती है वह हम ऊर्ध्व-गामी बनाती है, दूसरे की विभूति की ईर्ष्या से जो अशान्ति रहती है, वह अधोगामी।

सिद्धान्त में आग्रह, लोकाचार में निराग्रह, जीवन-साफल्य का सुन्दर नियम है। व्यक्ति व समाज का अच्छा सामञ्जस्य है।

सूक्ष्म जगत् के सुप्त या गुप्त बीज ही स्थूल जगत् में आकार धारण करते हैं। वे मूर्ख हैं, जो सूक्ष्म जगत् की उपेक्षा करते हैं और चाहते हैं कि स्थूल जगत्, हमारा जीवन, सुन्दर-सुखद हो जाय ।

एक दफा स्थूल जगत् का बिगाड़ अ-हानिकर या स्वल्प हानिकर होकर रह जायगा; परन्तु सूक्ष्म जगत् का बिगाड़ न जाने कहां-कहां व कितने रूप में हमें और दूसरों को भी हानि पहुंचावेगा।

भाव-शुद्धि सूक्ष्म जगत् को न केवल साधन, उपकरण, शुद्धि है बल्कि स्थूल जगत् को सुधारने का उपाय है।

चित्त-शुद्धि पहली अवस्था, चित्त की समता दूसरी, चित्त की परमात्मा में तल्लीनता तीसरी, व चित्त की चैतन्य या परमात्मा में अखण्ड, अभंग, सतत एकता या अद्वैत अनुभव करना चौथी व अन्तिम अवस्था है।

शुद्धि से शक्ति, शक्ति से सिद्धि, सिद्धि से परम शान्ति।

परम शान्ति (ब्रह्मरूपता, या कैवल्य)

↑
सिद्धि (आनन्द, प्रेममय स्थिति)

↑
शक्ति (शुद्धि की पुष्टि, सद्भावना, समता, सर्वात्म-भतता से)

↑
शुद्धि (मल-निवारण, सत्कर्म या निष्काम कर्म से)

↑
जागृति (सद्ग्रंथ-वाचन, सत्संग, पूर्व-संस्कार के उदय से)

↑
सामान्य जीव (स्वार्थ, अज्ञान, मोह-संयुक्त, अशक्त)

आत्म-ज्ञान के विना चित्त सन्देह-रहित नहीं होता; आत्म-प्रतीति से आत्मा की ओर निश्चित व श्रद्धा-युक्त प्रयाण होता है; आत्मानुभव या आत्मस्थिति से अद्वैत-सिद्धि होती है।

शरीर वाहरी जगत् से बना है, इसलिए वाहरी सावन-सामग्री की ही ओर दौड़ता है, किंतु आत्मा तो अपने ही स्वरूप में मस्त रहता है, इसलिए वाहरी उपकरणों की उसे आवश्यकता नहीं।

तव क्या आत्मार्थी निष्क्रिय वैठा रहे ?—नहीं। आत्मा तो स्वयं कर्म-मय है, सिर्फ इतना ही कि आत्मार्थी आत्मा के लिए कर्म करे, शरीर के लिए नहीं।

समष्टि में अपनेको मिलाकर समष्टि के हित के लिए कर्म करना आत्मा के लिए कर्म करना है और अपनेको पृथक् मान कर अपनेलिए कर्म करना शरीर के लिए कर्म करना है।

अपनेको भुलाकर समष्टि के लिए काम करना आत्म-साधना है, अपनेको स्वतन्त्र और पृथक् मान कर समष्टि के लिए कर्म करना स्वार्थसाधना है।

जहां साधना है वहां बल है। साधना की परिपूर्णता और

सार्थकता चित्त-शुद्धि में है। निर्मल चित्त में असीम और अखण्ड बल होता है।

रावण ने साधना की, उसे बल मिला। परंतु उसकी साधना अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए थी इसलिए उसका बल उसके नाश का कारण हुआ।

जब मनुष्य ऐहिक लाभ को छोड़ चुकता है, तब उसका बल और आनन्द बस अनुभव-गम्य ही है।

साधना का आरम्भ संस्कारों से होता है, अन्त अनुभव में। अतः साधना में विविधता है, अनुभव में अन्तिम एकता है।

योग-साधना से शरीर, प्राण व मन की स्थिति तत्त्वानुभव के योग्य अवस्था में आती है।

तत्त्व-ज्ञान से जगत्-व्यवहार न्याय-पूर्वक करने की प्रवृत्ति होती है; तत्त्व-निष्ठा से जगत् व्यवहार सहज, सन्तोषपूर्ण व शान्तिमय हो जाता है, जगत् का द्वन्द्व अतएव दुःख मिट जाता है।

एकाग्रता, एकनिष्ठा, साधना का प्राण है; सर्वार्थता, बहुमुखता, सर्वव्यापकता सिद्धि का प्रमाण है।

शुद्ध चित्त-रूपी दरवाजे से सभी साधक, जिज्ञासु, भक्त को जाना पड़ता है। उससे पहले साधनाओं की अनेकता है। उसके बाद ब्रह्म-स्वरूप के अनुभव—आत्म-साक्षात्कार में दिशा-भेद से अन्तर हो सकता है । पर वह जो कुछ अन्तर होगा उसे साधक स्वयं देख व अनुभव कर सकेगा । तबतक उसे श्रद्धा रखकर गुरु के बताये निर्दिष्ट पथ पर चलना पड़ेगा।

विवेक का सम्बन्ध बुद्धि-विकास से है । व्यापक, सूक्ष्म, गम्भीर बुद्धि की उसकेलिए अपेक्षा है । यह सर्वजन-सुलभ नहीं । फिर विवेक-शुद्धि का मूल भावना-शुद्धि है । शुद्ध भावना का तरीका गलत भी हो गया तो परिणाम कर्ता को ही बाधक होगा, दूसरे सुपरिणाम के भागी होंगे।

व्यक्तिगत, संस्थागत, समाजगत, देशगत, अहन्ता ममता बाह्य दृष्टि व संकुचित वृत्ति का परिणाम है। संकुचित अहन्ता उसी अंश तक क्षम्य है जिसतक वह व्यापक विश्व-भाव की अविरोधक हो।

सत्कर्म या निष्काम कर्म से चित्त शुद्धि होती है या देह-विकार मिटता है। अतः शुभकर्म आत्म-प्राप्ति का सहायक है।

स-काम कर्म सुख-दुख-प्रदायक हैं। स्वार्थ-कर्म केवल दुख-दायी हैं।

शक्ति की सिद्धि से जीवात्मा ईश्वर होता है। सत्य की सिद्धि से परमात्मा।

सेवा का महत्त्व इस बात में नहीं है कि वह छोटी है या बड़ी, बल्कि इस बात में है कि वह पवित्र या अपवित्र, शुद्ध भाव से की गई है या अशुद्ध भाव से।

जो मनुष्य जितना ही अन्तर्मुख होगा, और जितनी ही उसकी वृत्ति सात्विक व निर्मल होगी, उतनी ही दूर की वह सोच सकेगा और उतने ही दूर के परिणाम वह देख सकेगा।

यदि तेरी आत्मा दिव्य और सुन्दर है, तो तेरे शरीर की कुरूपता या बेडौलता को कोई नहीं देखेगा, केवल शरीर को सजा कर तू कै दिन तक अपना व्यापार चला सकता है ?

कर्म दूषित हो गया हो तो ज्यादा घबराने की बात नहीं, वृत्ति दूषित न होने दो। वृत्ति को दूषित होने से बचाने का उपाय है मन को भी दोषों से बचाने का यत्न करना।

यदि मन में सच्चाई है तो कर्म का नियन्त्रण मन को दोषों से हटा देगा, यदि मिथ्याचार है तो बढ़ावेगा और लोगों में भी शंका पैदा करेगा।

ईश्वर करुणा व मंगल की पुकार सुनता है, इसका अर्थ यह है कि भक्त की पुकार से ईश्वर की चित्-शक्ति के कारु-

णिक व मांगलिक अंश से अनुकूल स्पन्दन या स्फुरण होता है और वह भक्त के लिए सहायक सिद्ध होता है।

ईश्वर में सभी भावों का निवास है। हम जिस भाव से उसे पुकारते हैं उसी भाव के आन्दोलन द्वारा उसकी ओर से उत्तर मिलता है।

'भगवान भक्त के अधीन हैं', इसका अर्थ यह है कि भक्त तन्मयता से जिस भाव को अपनेमें जगाता है वही परमात्मा में जगता है। अतः भगवान् से अभिलषित वस्तु कराना भक्त के ही हाथ में है।

कोई भाव हमारे मन में तीव्रता से उठता है या नहीं, इसकी कसौटी यह है कि हमारे जीवन-व्यापार उसी भाव से चलने लगे हैं या नहीं और आसपास वाले उसे अनुभव करने लगे हैं या नहीं।

हमारी भावना का असर हमारे जीवन पर पड़ना प्रथम अवस्था है, पड़ौसियों पर व साथियों पर पड़ना दूसरी व समाज तथा जगत् पर तीसरी व अन्तिम विकास की अवस्था है।

भावना जैसे-जैसे शुद्ध होती जायगी वैसे-ही-वैसे वह अप्रतिहत होती जायगी। जैसे-जैसे अप्रतिहत होगी वैसी-वैसी वह संसार-व्यापिनी होती जायगी।

शुद्ध भावनाओं में ही फैलते रहने का गुण होता है।

प्रार्थना अन्तःकरण का स्नान है; स्फूर्ति, पवित्रता, बल, उसका फल है।

प्रार्थना का अर्थ है उच्च नियमों, सद्गुणों, उच्च आदर्शों का स्मरण, अपने हृदय के गंभीर स्वरों को हिला कर परमात्मा के साथ एक तान करना।

चित्त की प्रसन्नता व प्रफुल्लता एक वस्तु है; आमोद-प्रमोद दूसरी। एक के लिए भीतर से सामग्री मिलती है, दूसरी के लिए बाहरी जगत् से।

सहानुभूति का अर्थ है सामने वाले की आत्मा में अपनी आत्मा का अंश मिला देना।

आलस्य में पशुता है, क्रिया में जीवन है, विवेक में मनुष्यता है।

भक्ति के हृदय होता है, ज्ञान के आँखें होती हैं, कर्म के हाथ-पैर होते हैं।

भक्ति में व्याकुता; ज्ञान में शान्ति; कर्म में सजीवता होती है।

परिणाम की अपेक्षा अपने हृदय की प्रवृत्तियों पर अधिक ध्यान रखना चाहिए। 'जो तू सींचे मूल को फूलै-फलै अघाय'।

केवल तर्क अनर्थ है; केवल भावना अन्ध है; भावना-घाती तर्क दुष्ट व तर्क-शत्रु भावना अनिष्ट है।

भोग का अर्थ है स्वार्थ; स्वतन्त्रता का अर्थ स्वार्थ-परमार्थ; संयम का अर्थ है परमार्थ।

ईश्वर-सेवा का अर्थ है मानव-सेवा। सन्ध्या, उपासना, पूजा-अर्चा सेवा की योग्यता प्राप्त करने के साधन हैं।

एक मित्र से मैंने कहा—यह जगह बड़ी मनहूस मालूम होती है। उन्होंने भी ताईद की। लेकिन फौरन ही मुझे खयाल आया कि यदि इस जगह से मेरा तादात्म्य होगया होता तो जगह की बनिस्बत मैं अपनेको ही मनहूस कहता।

जबतक मेरी दृष्टि इस बात पर जाती है कि दूसरे ने मुझसे अधिक क्यों उपभोग किया, तबतक अवसर मिल जाय तो दूसरों को कम देकर भी, मेरी उपभोग की इच्छा, प्रबल समझनी चाहिए। जब यह वृत्ति बन जाय कि मैं चाहे थोड़ा लूं, पर दूसरों को अधिक मिले तब समझना चाहिए कि मेरी उपभोगेच्छा सात्विक हुई है।

जो विचार के अनुसार आचार का प्रयत्न करता है वही साधक है; जो केवल डीगें हांकता है, वह ढोंगी या गैर-जिम्मेदार है।

बुद्धि-बल संसार-व्यवहार को देखकर चलता है; नीति-बल या आत्म-बल अपने भीतर देखकर चलता है।

जिसने अपने भीतर नहीं देखा, लेकिन दुनिया को देखा, उसे दुनिया के झांके हंकना पड़ेगा।

आत्मा की ओर दृष्टि फिरवाना ज्ञान का प्रदेश है; मनो-गम्य रूप उपस्थित करना कला या कुशलता का।

यदि लक्ष्य सत्य की आत्मा को पाना है, तो उसके स्व-रूपान्तरों से परेशान होने की जरूरत नहीं।

संसार में नकद-धर्म 'मर्यादा-धर्म' है। वही मनुष्य सफल व सच्चा धार्मिक है जो मर्यादा को समझता है व समयानुसार उसको घटाता-बढ़ाता रहता है।

विवेक से ही इस मर्यादा का ज्ञान व पालन होता है। विवेक का अर्थ है अपने आस-पास की समस्त वस्तुओं व प्रभावों के बलाबल की तुलना।

व्यापक विश्व के तमाम बलाबलों का जब ज्ञान ही असम्भव है तो तुलना कहां से होगी? तो इसकी कुञ्जी हमारी आत्मा में सुरक्षित है।

अपनी आत्मा को विश्वात्मा में तल्लीन करके सोचोगे तो

मर्यादा-धर्म में प्रवेश कर जाओगे।

स्त्री एक मर्यादा में मां, दूसरी में बहन, तीसरी में पत्नी है। फल या अन्न एक मर्यादा में भोजन, दूसरी में औषध तीसरी में विष है।

गङ्गा इसलिए महान् है कि वह मैलों का मैल छुड़ाती है। सच्ची महत्ता दूसरों का उद्धार करने में है।

जबतक मनुष्य को अपनी महत्ता का ज्ञान व भान रहता है तबतक वह धार्मिकता या आध्यात्मिकता से कोसों दूर है।

अपनी मर्यादा का ज्ञान मनुष्य को अशान्ति से छुड़ाता है, अल्पता का ज्ञान उसे विनम्र और सरल बनाता है।

जहां सादगी तहां धर्म; जहां शृङ्गार, चमक-दमक तहां दुकानदारी।

पतिव्रता के शृङ्गार हृदय के सद्गुण; कुलटा के, चटकीले वस्त्राभूषण।

धार्मिक जीवन में भय व कायरता के लिए स्थान नहीं है। जो धर्म-पथ पर है, जिसने अपने-आप ईश्वर को सौंप दिया है वह क्यों दूसरे के सामने झुकने, भयभीत होने लगा?

—

: ६ :

अन्तर्ज्योति

'आत्म-शक्ति', का अर्थ अपने-आप पर अन्ध या मिथ्या या अति-विश्वास नहीं, वल्कि सज्ञान, स-भान, स्वावलम्बी विश्वास: यह तुलना के पहले का नहीं, बाद का विश्वास है।

मन की माया अपार है। मन खुद अपनेको भी ऐसी चोरी से धोखा देता है कि सहसा पता नहीं लगता, तब औरों की क्या कथा ?

मनुष्य के मन में एक के बाद एक स्तर–परदे मालूम होते हैं। जिस मनुष्य की दृष्टि जिस स्तर तक पहुंच सकती है वहीं तक उसके सामने भाव प्रकाशित किया जा सकता है, या करने में कुछ अर्थ है।

यदि मेरा मन निरर्थक, अनावश्यक, या अप्रस्तुत बातों का विचार करने से नहीं रुकता तो इसका अर्थ यह है कि आव-

श्यक या महत्त्वपूर्ण विषय अब उसके लिए नहीं रहे ।

मन की निगरानी पूरी-पूरी रखनी चाहिए, भले ही उसे हर मौके पर तंग न किया जाय । पर उसकी प्रत्येक गति-विधि पर ध्यान अवश्य रखा जाय । इससे वह अपने आप निन्दनीय भावों पर शर्मिन्दा होता रहेगा ।

मन के बल को ज्यों-ज्यों नापने लगते हैं, त्यों-त्यों उसकी शक्ति अपार व अपनी अल्प मालूम होती है; पर ज्यों-ज्यों हम संयम का यत्न करने लगते हैं, उसपर अंकुश लगाने में सफल होने लगते हैं, त्यों-त्यों हाथ में लगाम रखने वाले सवार की तरह अपनेको सुरक्षित और बलवान् पाते जाते हैं ।

यदि तुम किसी भी कार्य में सफल होना चाहते हो तो मन पर विजय किये बिना छुटकारा नहीं है । इसके लिए मन पर कड़ी निगरानी रखकर मित्र, साथी, या अपने अजीज की तरह उसे अपने प्रेम व सहानुभूति से समझाते रहना होगा । विषय-भोग से हटाकर उसे ईश्वर-कार्यों में प्रेरित करना होगा ।

विजय के मानी सामने वाले को मिटाना या जलील करना नहीं है, बल्कि सुनियन्त्रित करना है, विजय के मानी अपनेको उद्धत, मदोन्मत्त और स्वेच्छाचारी बनाना भी नहीं है, बल्कि अधिक नम्र, अधिक न्यायी और अधिक जिम्मेदार बनाना है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि जब मैं सोचने लगता हूं तो ईश्वर सोचना छोड़ देता है। जब मैं सोचना छोड़ देता हूं तो वह सोचने लगता है। क्या दोनों साथ-साथ नहीं सोच सकते ?

तो मैं सोचूं या ईश्वर को ही सोचने दूं ? मैं बड़ा हूं, या ईश्वर ? छोटा सोचे या बड़ा ?

तो फिर उसी ईश्वर ने हमें बुद्धि क्यों दी है? शायद यही जानने के लिए तो न दी हो कि मनुष्य का सोचना फिजूल है। बड़े के सोचने के आगे छोटे का सोचना किस काम का ? हाँ बाल-चापल्य की तरह मनोरंजन का साधन हो सकता है।

इसका अर्थ यह नहीं कि बुद्धि से काम लेना, या बुद्धि का विकास करना छोड़ दिया जाय, बल्कि यह है कि उसकी सीमा देख ली जाय।

जब हम यह याद रखकर सोचेंगे कि हमसे बड़ा कोई सोचने वाला है, तब हम अपनी बुद्धि से बहुत सही निर्णय निकालेंगे। यह वृत्ति दोनों के सोचने की सीमा निर्धारित कर देगी।

इसका सरल अर्थ यह हुआ कि हमारी बुद्धि ईश्वरी नियमों व विधान को जाने व उसके अनुकल, उसके प्रकाश में, अपने फैसले दिया करे।

हृदय की प्रेरणा जितनी निर्मल और सुन्दर होती है, उतने बुद्धि के निर्णय नहीं। हृदय की प्रेरणा, अन्तरात्मा की आवाज, अहेतुक होती है, इसलिए उसका असर सात्त्विक और व्यापक होता है, बुद्धि का निर्णय घाटे-नफे की तराजू पर होता है और मनुष्य घाटे से डरता और नफे के लिए ललचता रहता है।

बुद्धिका निर्णय सही उस अवस्था में हो सकता है जब हम अपनेको छोड़कर या भूल कर वस्तु को तौलें।

हृदय की प्रेरणा और बुद्धि का निर्णय-जब दोनों की एक लय मिल जाती है तब मनुष्य को अचूक समझो।

कई बार ऐसा होता है कि सत्य दिखाई पड़ता है, किन्तु उसे पकड़ने जाते ही वह ओझल हो जाता है। क्या वह इस तरह झलक दिखा कर हमारी परीक्षा नहीं करता ?

कुसंस्कारों को दबाने से कुछ लाभ नहीं। भौतिक-जगत् की तरह मानसिक जगत् में भी दबाव से उलटा बिगाड़ होता है।

विवेक-जागृति करना ही इसका एक-मात्र राज-मार्ग है। कठोर साधनाएं तभी लाभदायी हो सकती हैं जब साधक का मन खुद ही उसे पसन्द कर ले।

मनुष्य को मन के अधीन तो रहना ही पड़ता है, क्योंकि प्रकृति भी नियमाधीन चलती है। जो अपनेलिए नियम नहीं बनाता उसे दूसरों के बनाये नियमों पर चलना पड़ता है।

उस सत्य कार्य को भी मत करो, जिससे चित्त की प्रफुल्लता मारी जाती हो। मुझे उस कार्य की सात्विकता में सन्देह होता है।

बुद्धि का चमत्कार देखना हो तो शास्त्रों को देखो। हृदय का जादू देखना हो तो कलाओं के पास जाओ।

पुरुषको भगवान ने अपनी बुद्धि से व स्त्री को अपने हृदय से बनाया है। पुरुष शास्त्र व स्त्री कला है।

बौद्धिक-जगत् के प्रश्न हल कर लेना फिर आसान है। किन्तु व्यावहारिक समस्याओं को हल कर लेने में ही सफलता है।

बौद्धिक समस्या में केवल वस्तु या तत्व का स्वरूप ही सामने रहता है, किन्तु व्यावहारिक समस्या में व्यक्ति का भी हिसाब लगाना पड़ता है।

यदि मैं संशयी हूं तो मेरा चित्त कभी प्रफुल्ल नहीं रह सकता।

जो निष्पाप है, जो स्वार्थ-रहित है, वह संशयी नहीं हो सकता ।

वहम आस्तीन का सांप है । सांप कभी-कभी काटता है, वहम घुन की तरह हमारे सत्व को नित्य कुतर-कुतर के खाता और हमें बोदा बना देता है ।

कटु-अनुभव भी मनुष्य को वहमी बना देता है । कटु अनुभव से जागृति आना प्रगति का, परन्तु वहमी होना सत्य से विमुख होने का लक्षण है ।

काल्पनिक ज्ञान आधार योग्य नहीं, अनुभव-जन्य ज्ञान ही वास्तविक है । अनुभव केवल विचार से नहीं, प्रत्यक्ष कर्म करने से होता है ।

विचार-जगत् में तो सभी आशावादी रहते हैं, किन्तु पक्का आशावादी उसे कहना चाहिए जो कर्म-जगत् में निराशाओं के बीच आशावादी बना रहे ।

विकारों को न छेड़कर आत्मा के गुणों को बनाते रहना मन के शिक्षण की यह रीति है तो अच्छी, परन्तु पूर्ण नहीं है । विकारों का मुकाबिला करके, उनको पछाड़ देने पर ही, सच्ची सिद्धि समझनी चाहिए ।

हृदय पर हाथ रखकर ही विकारों को छेड़ने का साहस

करना चाहिए ।

मन में यदि तलस्पर्शी विचार नहीं आते हैं तो वे मन को डावांडोल व झकझोर नहीं सकते। पानी की सतह पर उठने वाली तरंगों की तरह आते-जाते रहते हैं। संयम अधिकांश में उन विचारों का करना है जो मन को आलोडन कर डाल सकते हैं। उन्हीं में मन की प्राण-शक्ति अधिक व्यय होती है।

क्षोभक विचारों से शक्ति क्षीण होती है। धर्म-विचारों से शक्ति का सदुपयोग होता है। आत्म-विचार से शक्ति की वृद्धि व सिद्धि होती है।

जो स्वप्न में जाग्रत रह सकता है वह मन को परख सकता है।

यदि स्वप्न में भी आप किसी दोष के साक्षी होते हैं तो समझ लीजिए कि वह दोष किसी-न-किसी रूप में आप को प्रिय है।

जब स्वप्न भी सात्विक आने लगें तब समझो कि मन सात्विक होने लगा है।

जब तफसील में मन लगने लगे–मन पर जोर न मालूम हो–तब समझो कि उस विषय में अनुराग उत्पन्न हुआ है, या हम जिम्मेदारी महसूस करते हैं।

जब तक मनुष्य स्वतः तफसील में नहीं उतरेगा तब तक उसे दूसरों के चुल्लू से ही पानी पीना पड़ेगा।

वृत्ति व अभ्यास दोनों होने चाहिए। वृत्ति से मन पर जोर पड़ेगा, अभ्यास से दूसरे धोखा न दे सकेंगे।

ज्यों-ज्यों तू विवेक व ज्ञान की ओर बढ़ता जायगा त्यों-त्यों तेरे आवेश और व्याकुलता का स्थान स्थिरता, धीरज, और शान्ति को मिलता जायगा। तेरा काम थोड़ा होगा, पर फल बहुत निकलेगा।

जब व्याकुलता विवेक पर हावी हो जाती है तो वह बरसात की अन्धाधुन्ध बाढ़ की तरह जन-समाज के लिए भयंकर हो जाती है।

सावधान—लाभ हानि का बहुत विचार करने वाला मनुष्य हानि से बच सकता है। अधिक प्राप्ति कर लेगा, ऐसा नहीं कह सकते।

इससे विपरीत साहसी मनुष्य बड़ा लाभ कर सकता है। सावधानी खतरों से बचाती है। साहस बड़े कार्यों के लिए उत्साह देता है।

प्रतिकूलताओं या बाधाओं को न बढ़ने देने या रोकने जितनी ही सावधानी आवश्यक है।

यदि निर्णय सात्विक है तो साहस के साथ आगे बढ़ते जाओ। 'साहसे श्री वसति।'

निर्णय के सात्विक होने की परीक्षा यह है कि वह बहुजन-समाज के हित की भावना से व अपने प्रसन्न अन्तःकरण से जन्मा हो।

निर्णय करते समय व्यक्ति का नहीं, बल्कि विषय व नीति का प्रधान विचार करना चाहिए। निर्णय के अमल या अभि-व्यक्ति में व्यक्ति का विचार उचित है।

निर्णय तो जल्दी में न करना चाहिए पर उसे अमल में लाने में ढील करना उचित नहीं। फिर फल के विषय में अधीर न होना चाहिए। आदि-अन्त में धैर्य, मध्य में 'त्वरित' ऐसा नियम बनता है।

बिना मांगे सलाह न देना, जैसे बड़ा गुण है वैसे ही बिना जरूरत के न बोलना, न जानने की इच्छा रखना भी आवश्यक साधना है।

सब के साथ पूरा न्याय करने की वृत्ति या शक्ति का ही दूसरा नाम विवेक है।

दूसरा दुरुपयोग करेगा—इस भय से मैं आत्म-प्रकाशन को क्यों रोकूं ? खासकर तब, जब कि वह कर्तव्य-रूप हो गया है ?

: ७ :

अन्तर्बल

भाव एक स्फुरणा है, विचार एक योजना है। पहले परमात्म-शक्ति में व्यक्त होने का भाव आया, फिर व्यक्त संसार की योजना बनी। पहले भाव, फिर विचार।

भाव, गति, वेग, बल है। विचार में विश्लेषण, काट-छांट, व्यवस्था, योजना है। विचार-युक्त भाव प्रौढ़ होता है।

सृष्टि-सौन्दर्य परमात्म-भाव है, सृष्टि-रचना परमात्म-योजना है। भाव हृदय का उभाड़ है, स्पन्दन है; विचार मस्तिष्क की चेतना है, प्रकाश है। भाव में रस, विचार में ज्ञान है। भाव मस्ती व विचार जागृति है। भाव में स्नान किया जाता है, बहा जाता है, डूबा जाता है। विचार में तैरा जाता है; आलोचन-प्रत्यालोचन होता है।

भाव से ज्ञान में परिणति ऊर्द्धगति है।

भाव और हृदय-विचार और मस्तिष्क का मेल मानव-जीवन है।

भाव एक स्फुरणा, गुण एक साधना, बल एक प्रभाव है।

भाव जब आकार धारण करता है, क्रियात्मक-रूप ग्रहण करता है तब गुण कहलाता है।

गुण जब दूसरों को प्रभावित करता है तब बल हो जाता है।

भाव में प्रेरणा, गुण में आकर्षण व बल में दबदबा होता है। बल के पुजारी प्रभाव को मानते हैं; गुण के पुजारी आकर्षण देखते हैं, भाव के पुजारी संवेदन को खोजते हैं।

भाव मस्त-उन्मत करता है; गुण चेतना, कार्य प्रेरणा देता है; बल दबाता, आतंकित करता है। भाव हृदय को स्पर्श करता है; गुण बुद्धि को प्रमुदित करता है, बल शरीर को वशीभूत करता है। भाव अपने आप बहता है; गुण साधना से आता है, बल आयोजन व अभ्यास से प्राप्त होता है।

भाव आत्मिक, गुण मानसिक, बल शारीरिक है।

बल में राग-द्वेष, गुण में स्नेह, भाव में आनन्दोत्साह होता है। बल--पजक पार्थिव जगत् में, गुण-पूजक नैतिक जगत् में

भाव-पूजक चैतन्य जगत् में रहता है। बल-पूजक उठता, गिरता चलता है, गुण-पूजक सीधा आगे वेग से चला जाता है, भाव-पूजक उड़ता है।

भाव में असीमता, गुण में मर्यादा, बल में बन्धन है। बल से गुण व गुण से भाव-शुद्धि की ओर प्रवृत्ति उन्नति का एवं भाव से हटकर गुण व गुण से हटकर बल की सिद्धि की ओर झुकाव अवनति का लक्षण है।

जब मैं यह कहता हूं कि तुम मेरे बल को मानो तो मैं तुम्हें दबाना चाहता हूं; जब मैं यह चाहता हूं कि तुम मेरे गुण की कद्र करो तो मैं न्याय चाहता हूं।

जब तक हमारा ध्यान अपने गुणों की ओर रहता है तब तक हमारा अहंकार हमें साहस के रूप में दिखाई देता है; पर जब हमें अपने दोषों और पापों का परिज्ञान होने लगता है, तब हम नम्रता का अनुभव करते हैं, और वह हमें दैवी साहस व तेज प्रदान करती है।

सच्चा जोरदार वह है जो न दबे; न दूसरों को दबने दे। बल्कि जो दबाया जाता हो उसे सहारा भी दे।

जोरदार बनने की अपेक्षा हम मनुष्य बनने का ही क्यों न यत्न करें? मनुष्यत्व में सब गुणों का यथेष्ट मिश्रण रहता

है। यदि किसीमें कोई गुण अधिक है तो निर्विवाद रूप में कोई प्रति-गुण कम होगा। इस तरह विशेषता ही मनुष्य की मर्यादा बन जाती है।

जोरदार आदमी सहनशील कम होता है। इसमें उसकी विशेषता और मर्यादा दोनों आ गई। इसके विपरीत सहनशील आदमी जोरदार नहीं रहता। जोरदार में अपने साथ न्याय करने की और सहनशील में दूसरों के साथ न्याय करने की वृत्ति अधिक होती है।

गुण से दूसरा मनुष्य आकर्षित होता है और वल से दबता है। कोई गुण जब दूसरे को दबाने लगता है तब वह वल बन जाता है। वल गुण का राजस रूप है।

तू स्वयं अपनी परिस्थति का रचयिता है। जिस परिस्थिति में तूने जन्म लिया है वह तेरी ही कृतियों से प्राप्त हुई है।

मुझे अपने गुणों पर बढ़ना चाहिए, न कि दूसरों की कृपा पर। मेरे गुण मुझे बढ़ायेंगे, उसकी कृपा उसे बढ़ावेगी।

"मैं तुझसे डरता हूं।"

"भई, क्यों ?"

"क्योंकि तू 'स्कीमी' है, तुझसे सदा चौकन्ना रहना पड़ता है।" मित्रता और इतना चौकन्नापन एक साथ नहीं रह सकते।

वली को लोग मानते हैं, पर डर से; किन्तु गुणी को लोग मानते हैं प्रेम से।

यदि मैं तुझसे इसलिए दवता हूं कि तू जोरदार है, मुझे नुकसान पहुंचा देगा, तो मैं तुझे मनुष्य नहीं जालिम और राक्षस समझता हूं।

और यदि मेरे इस प्रकार सिर के झुकाने से तू राजी रहता है तो तेरे वरावर मूर्ख नहीं।

जहां वल में सत्ता, अहंकार, मान, विजिगीषा छिपी रहती है, तहां गुण में सेवा, दया-दाक्षिण्य, सौजन्य रहता है।

आग्रह वल का लक्षण है। शुभ का आग्रह सत्याग्रह, अशुभ का दुराग्रह है।

अपने सिद्धान्त या निश्चय का मैं आग्रह रखूं तो यह मेरा वल है, यदि दूसरे पर उसे लादूं तो यह अत्याचार है।

गुण ही वास्तव में वल है। जब तक कि वह निष्क्रिय या शान्त है तव तक गुण है, क्रियावान होते ही वह वल हो जाता है। दूसरों पर जब उसका प्रयोग होता है तव वह वल-रूप में

अनुभव में आता है।

गुण का अप्रासंगिक या अमर्यादित उपयोग अनावश्यक है, जैसा कि औषधि का, गुण का अमर्याद संग्रह नहीं बल्कि उपयोग आपत्तिजनक है।

गुण-संग्रह तप से—साधना से होता है, उपयोग के लिए विवेक आवश्यक है।

समतोल विचार करने की आदत डालने से विवेक का उदय होता है।

कोई गुण यदि अति तक पहुंचता हो तो वह प्रस्तुत विषय में हानिकर परिणाम ला सकता है, भले ही दूसरी दिशाओं में उसका सुपरिणाम भी होता हो। हमारा ध्यान तात्कालिक व प्रत्यक्ष की तरफ होता है, अतः उधर ध्यान नहीं जाता।

आग्रह और आसक्ति के मूल में एक ही वस्तु दीखती है—आग्रह किसी सिद्धांत और नियम का होता है, आसक्ति किसी व्यक्ति या वस्तु में होती है।

किन्तु आग्रह बल है, आसक्ति कमजोरी है। जब आग्रह किसी व्यक्ति या वस्तु का होने लगता है तब वही आसक्ति बन जाता है।

अनासक्ति का अर्थ प्रेम की कमी नहीं, जहां प्रेम का फल दुःख होता हुआ दिखाई दे वहां समझो कि आसक्ति है।

अनासक्ति की सच्ची परीक्षा हमारी अपनी हानि, कष्ट, त्याग, विपत्ति, अपमान के समय या हमारे अपनोंके वियोग या कष्ट आदि के समय होती है।

हमारी अनासक्ति यदि दूसरों का बिगाड़ या नाश करते समय ही रहती है तो वह हमारे असुर-स्वभाव का सुर-रूप है।

यदि हम कर्म के सिद्धांत को मानते हैं और सचमुच उस पर दृढ़ रहते हैं, तो अनासक्ति अपने-आप आ जाती है।

अनासक्ति की कसौटी यह है कि फिर उस वस्तु के अभाव में हम कष्ट अनुभव न करें।

जब मैं मनोरथ करना छोड़ दूंगा तो मैं बेकार नहीं हो जाऊंगा—मेरा मन और शरीर स्वाभाविक रूप में काम करने लगेगा।

जब मैं आशाओं के महल खड़े करता हूं तो कितना सुख मिलता है? जब वे महल ढहने लगतें हैं तो कितना दुःख होता है। यदि मैं मनोरथ करना ही छोड़ दूं तो क्या इस द्वन्द्व से न छूट जाऊंगा?

ममत्व और अनासक्ति के झगड़े में जब ममत्व की जीत हो जाती है तो अभिमान खुश हो जाता है, परन्तु बाद में हम अपनेको गड्ढे में गिरा हुआ पाते हैं। किन्तु जब अनासक्ति की विजय होती है तब दुनियादारी नाराज होती है, किन्तु आत्मा का बल, प्रफुल्लता और मस्ती बढ़ जाती है। दुनिया की निगाह में हम रज-कण हो जाते हैं, किन्तु वास्तव में ऊंचा उड़ने की क्षमता पा जाते हैं।

जिस काम से या जिसके संसर्ग से बार-बार हमको क्लेश होता है उसे छोड़ देना ही अच्छा है। उसके मूल में कहीं न कहीं हमारा मोह छिपा हुआ मिलेगा। सेवा तो वह, जिससे चित्त सदैव प्रसन्न रहे। मित्रता और प्रेम तो वह है कि संसर्ग की उत्सुकता रहे और संसर्ग के बाद प्रफुल्लता।

यदि मेरा त्याग या विराग सच्चा है तो फिर मुझे दूसरों से अधिक मिलने या न मिलने की शिकायत मन में क्यों रहती है? या रखनी चाहिए?

पहले मैं जिन स्वप्नों में कर्त्ता-रूप में दीखता था उनमें अब प्रायः दृष्टा रूप में दीखता हूं। यह प्रगति का क्रम है। उन विषयों में लिप्तता कम होने का चिह्न है। लेकिन इससे यह भी ज़ाहिर होता है कि अभी उन विषयों का अनुराग मिटा नहीं है।

ज्ञान व भाव-शुद्धि के मेल से आत्म-विश्वास बनता है। ज्ञानवाणी से निर्णय में उलझन नहीं रहती, भाव-शुद्धि से प्रतिकूलताओं का भय कम रहता है। दोनों का फल है—आत्म-विश्वास।

यदि मनुष्य केवल सोचता ही रहे तो आत्म-विश्वास नहीं बढ़ता, जब करने लगता है तब आत्म-विश्वास का उदय होता है।

आत्म-विश्वास की कमी हमारी अपनी भलमनसाहत की कमी को सूचित करती है। यदि सचाई पर हमारा पूरा भरोसा है तो हमारा आत्म-विश्वास बढ़ना ही चाहिए।

वीर पुरुष बुरे आदमी की भी भलाई को देख लेता है और उसमें उसका साथ देता है। यह सावधानी का अभाव नहीं, आत्म-विश्वास का प्रभाव है।

यदि हम बाहुबल को श्रेष्ठ मानेंगे तो उससे डरेंगे भी। यदि हम प्रेम-बल या आत्म-बल को श्रेष्ठ मानेंगे तो उसीसे जीते जा सकेंगे।

अत्याचार व भय दोनों कायरता के दो पहलू हैं। कम बली पर जो अत्याचार करते हैं, वही बड़े बली के सामने कायर हो जाते हैं।

परमेश्वर की दयालुता का जब अनुभव होता है तब

मानवी-प्रयत्न व्यर्थ मालूम होने लगते हैं। प्रयत्न से काम न चले तब भगवान पर छोड़ें या पहले से ही छोड़ दें ?

मनुष्य यत्न तो करे, पर फल के विषय में यह श्रद्धा रखे कि परमात्मा अवश्य सुनेगा। जब थकने या हारने लगे तब सब-कुछ परमात्मा पर छोड़कर निश्चिन्त हो जाय।

जब घबराहट, या बेचैनी या दुविधा हो तो भगवान् के भरोसे शान्त बैठ रहना ही सर्वोत्तम है।

जब मैं किसी बात को भगवान् पर छोड़ता हूं तो उसका अर्थ यह हुआ कि मैं स्थूल प्रयत्न तो बन्द कर देता हूं; किन्तु सूक्ष्म जगत् की महान् शक्तियों को जाग्रत या प्रेरित करता हूं।

बुद्धि कोई सन्तोषजनक उत्तर दे या न दे, जो ईश्वर पर सच्ची श्रद्धा रखता है, वह कदम-कदम पर चमत्कारों का अनभव कर सकता है। दूसरों को जहां भयंकर खाई और अलंघ्य-पर्वत दिखाई देता है, वहां उसके लिए खुला रास्ता मिलता है।

ईश्वर पर श्रद्धा रखने वाला काहिल, सुस्त, निकम्मा, और निष्क्रिय नहीं रह सकता। ईश्वर क्या है ? अनन्त, अखण्ड, अक्षय, अनवरत चैतन्य शक्ति है। उसका उपासक मन्द व जड़ कैसे हो सकता है।

श्रद्धा अन्धता का नहीं, बल और धीरज का चिह्न है।

जहां अन्धता है, वहां स्वप्रेरित और अनवरत क्रिया-शीलता हो ही नहीं सकती।

जब परमात्मा की ओर देखते हैं तो वह बहुत नजदीक मालूम होता है, पर जब जगत् की ओर देखते हैं तो उसके अस्तित्व में भी शंका होने लगती है—कम-से-कम उसकी न्याय-शीलता में तो अवश्य।

जब सत्कर्मी को असह्य कष्ट हो तो समझना चाहिए कि ईश्वर शीघ्र ही उसपर कृपा करने वाला है।

क्षणिक जोश, अधैर्य, निराशा और आत्म-विश्वास की कमी—ये नास्तिकता के चिह्न हैं।

तपस्या क्या है ? अपने विचार व उच्चार के अनुसार आचार।

सर्वांगीण संयम का नाम ही तपस्या—शक्ति-संग्रह है। संयम का अर्थ है—हाथ खींचकर व्यय करना।

एकाग्रता तप का मूल है।

त्याग की खूबी तब है जब हमें उसका स्मरण ही न आवे। उसकी याद रखना और दूसरों को दिलाना त्याग को आसमान

से उतार कर जमीन पर ले आना है और बाजार में खड़ा कर देना है।

यदि मनुष्य मृत्यु के लिए तैयार है तो उसका जीवन बढ़ जाता है, व मृत्यु सुखद हो जाती है। यदि उससे डरता है तो जीवन एक फजीहत ही रहता है, मृत्यु भी बिगड़ जाती है।

स्वतन्त्रता अपने अधिकार-रक्षा की प्रतिज्ञा है; संयम दूसरों को सुरक्षितता का आश्वासन है, और निर्भयता में दोनों का समावेश है।

यदि तेरी आत्मा निर्भय है तो तुझे तलवार बांधने की क्या जरूरत है? और यदि तूने मृत्यु के भय को जीत लिया तो फिर संसार में कोई भय तुझे परास्त नहीं कर सकता।

और मृत्यु तो अमरता का मार्ग या द्वार खोल देती है, अतः उससे डरने का क्या प्रयोजन?

वीरता क्या है? निर्भय और बेधड़क होकर अपनेको बड़े-से-बड़े कष्ट और खतरे का सामना करने के लिए तैयार रखना।

भय वास्तव में कुछ नहीं है, या तो हमारा अज्ञान है, या ारे दुराचार-अत्याचार की प्रतिक्रिया है।

भय को टालो मत, सामने आने दो। उसका पेट चीरकर निकल जाने का इरादा रक्खो। यदि साहस के साथ विवेक भी तुम्हारा साथी है, तो तुम्हारी हर जगह विजय है। फिर भय तुमसे भय खाता रहेगा।

विवेक तुम्हें भय को जबरदस्ती निमन्त्रण न देने देगा; साहस तुम्हें उसके मुकाबले का बल देगा।

भय, संकट, दुःख, विपत्ति को निमन्त्रण देना जहां मूर्खता है, वहां उनके आ उपस्थित होने पर लड़खड़ाना उससे बड़ी मूर्खता है।

आनन्द की तरह दुःख या भय भी नजदीक जाने पर साधारण मालूम देता है।

चिन्ता भावी विपत्ति की छाया है। मानसिक प्रयत्न व चिन्ता पृथक्-पृथक् हैं। प्रयत्न में उत्साह, आशा, साधन-बहुलता है, चिन्ता में परेशानी, घबराहट, भय, निराशा है।

चिन्ता भावी विपत्ति की छाया है। मानसिक प्रयत्न व चिन्ता पृथक्-पृथक् हैं। प्रयत्न में उत्साह, आशा, साधन-बहुलता है; चिन्ता में परेशानी, घबराहट, भय, निराशा है।

चिंता या तो पाप-भीरु को होती है या निर्बल मस्तिष्क

को। पाप-भीरु को कभी-कभी और निर्बल मस्तिष्क को सदैव।

पाप को पेट में मत रख, उगल दे। जहर तो पेट में रख लेने से शरीर को ही मारता है, किन्तु पाप तो सारे सत्व को ही मिटा देता है।

डर से दबना क्षमा नहीं, दया खाकर उदार बनना क्षमा है।

दबने से प्रहार अच्छा, प्रहार से क्षमा अच्छी।

हर्ष और शोक एक सिक्के के दो बाजू हैं। जिसमें हम हानि या अभाव अनुभव करते हैं, वह है शोक, और जिसमें लाभ या प्राप्ति का अनुभव करते हैं; वह हर्ष है।

जो हमारा हर्ष है वह किसी-न-किसी का शोक अवश्य है। जो हमारी हानि है उससे किसी का घर अवश्य आनन्दित हुआ होगा।

अपने हर्ष के समय यदि हमें दूसरे की हानि का भान रहे तो हमें जल्दी समता प्राप्त हो सकती है।

सुख तल्लीनता, तन्मयता, एक-तानता में है। जो विषय सुख का साधन बना है वह जितना स्थायी होगा, उतना ही सुख भी स्थायी होगा।

जिसके पीछे विषाद का अनुभव हो वह सुख नहीं है, उत्तेजना है; जीवन जितना स्वाभाविक व समतोल होगा उतना ही सुख मिलेगा ।

भय से उच्चार अच्छा, उच्चार से आवेश अच्छा, आवेश से संयम अच्छा, संयम से मौन अच्छा। भय से उत्पन्न मौन पशुता व संयम से उत्पन्न मौन साधुता है ।

दमन व संयम एक नहीं है । दमन में स्वतन्त्रता छीनी जाती है, संयम में बुरी बातों से अपनेको बचाया जाता है। दमन दूसरों-द्वारा होता है, संयम खुद किया जाता है । दमन में दूसरों का बल दबाता है; संयम में अपना ज्ञान बचाता है। दमन बिगाड़ता है, संयम सुधारता है ।

जड़ता से उद्यम अच्छा, उद्यम से संयम और संयम से शान्ति अच्छी है ।

: ८ :

अन्तःशूल

यदि मैं वास्तव में आत्म-शोधक हूं तो मुझे दूसरों के दोष देखने, उनकी निन्दा या आलोचना करने की फुर्सत ही नहीं हो सकती ।

जिस अंश तक मैं दूसरों में आत्म-भाव अनुभव करने लगूंगा उसी अंश तक उनकी निन्दा में अरुचि रख सकूंगा ।

यदि मैं तेरी प्रशंसा करता हूं तो प्रशंसनीय कार्य में सहयोग देने की जिम्मेदारी अपनेपर लेता हूं; यदि निन्दा करता हूं तो निन्दनीय कार्य से तुझे निवृत्त करने का दायित्व लेता हूं, व अपनेको उससे अलग रखने की घोषणा करता हूं ।

यदि अपनी विशेषता का प्रदर्शन इस रीति से किया जाता है कि दूसरे की न्यूनता की ओर लोगों की दृष्टि जाय तो इसमें आत्म-प्रशंसा व पर-निन्दा दोनों दोष एकत्र हैं ।

निन्दा में व्यक्तिगत दुर्गुणों का समावेश होता है, गिराने को, वदनाम करने की भावना रहती है, आलोचना केवल किसी कार्य या कदम की ही हो सकती है।

अगर मुंह पर विरोध करने का सामर्थ्य या साहस नहीं है तो पीठ पीछे स्तुति करने की भी उदारता मुझमें न होगी। सच्चा मित्र वह है जो मुंह पर चाहे कड़वी कहे पर पीछे सदैव वड़ाई करे।

यदि मैं लोगों की निन्दा ज्यादा करता हूं, लोगों की नीयत को वुरा ही वताता हूं, या हमेशा उसपर सन्देह ही करता हूं तो मानना होगा कि मैंने अपनी आत्मा की मलिनता को अभी देखा नहीं है।

अपनी वदनामी के भय से जो क्रोध हमें दूसरों पर आता है वह हमारे अन्दर छिपी उद्धतता की चुगली खाता है।

यदि निन्दा झूठी है और 'मैं' सत्पुरुष हूं तो मुझे सामने वाले पर क्रोध आने के वजाय दया आनी चाहिए। यदि निन्दा सही है तो मुझ में विनम्रता के दर्शन होने चाहिएं।

प्रेम और वैर, पुण्य और पाप, छिपाये नहीं छिपते। जहां गुप्तता है वहां कोई वुराई अवश्य है। वुराई को छिपाना वुराई को वढ़ाना है।

दुर्योधन को यज्ञ के ब्राह्मण दुष्ट ही दुष्ट दिखाई दिये और धर्मराज को भले ही भले, यही दोनों में अन्तर था।

जो दूसरे को बुरा कहकर उससे नफरत करता है, समझ लो उसने अभी अपने- आपको नहीं टटोला है, अपने अच्छेपन का अभिमान ही हममें नफरत पैदा करता है और जहां अहं-कार है वहां क्या कम बुराई है ?

अपनी आलोचना या निन्दा में रुचि होना इस बात का सबूत है कि मैंने अपने घर की देख-भाल शुरू कर दी है।

प्रशंसा व स्तुति में रुचि होना इस वात का सवूत है कि मैंने अपने घर की चाबी दूसरों को दे रखी है।

यदि तुमने सचमुच सामने वाले में भी अपने ही सदृश आत्मा का अस्तित्व मान लिया है तो उसके द्वारा हुई अपनी आलोचना या निन्दा से तुम्हें उद्वेग न होगा। अपनेको टटोलने की जागृति होगी।

ऐसी अवस्था में यदि तुम्हारा क्रोध या अहंकार जाग उठा है तो समझो कि सामने वाले ने तुम्हारे घर के सांप-बिच्छू तुम्हें बता दिये हैं।

स्वार्थ-सिद्धि के लिए प्रशंसा करना दाता के हाथ स्वाभि-मान को बेच देना है; लोक-कार्य के लिए प्रशंसा करना,

अपने कार्य से दाता के गुणों का अधिक ममत्व मानना है; दाता की उन्नति या सुधार के लिए उसकी प्रशंसा करना अपनी कृतज्ञता का परिचायक है और केवल गुणों पर रीझ कर आनन्दित होना और आनन्द की अभिव्यक्ति का रूप प्रशंसा को मिल जाना सच्ची गुणग्राहकता है। इसमें दाता व गृहीता दोनों का श्रेय है।

स्वार्थ-सिद्धि के लिए की गई प्रशंसा से दाता की दुर्वासना बढ़ती है, लोक-कार्यार्थ प्रशंसा से अभिमान, उन्नति के लिए प्रशंसा से उत्साह व निष्काम प्रशंसा से श्रेय बढ़ता है।

अपनी प्रशंसा में जबतक रुचि है तबतक अपनी निन्दा से भी उद्वेग हुए बिना न रहेगा। अपनी सफलता में जबतक रुचि है, तबतक असफलता दुखदायी हुए बिना नहीं रहेगी।

प्रशंसा या सफलता को भूलकर अंगीकृत कार्य या कर्त्तव्य-पालन में लगे रहना ही सच्चा योग व सच्ची समाधि है। इस तल्लीनता का अन्तिम छोर ही सिद्धि है।

यदि तूने दुर्भाव से कोई काम किया है, तो उसका बाहरी व ऊपरी रूप कितना ही निर्दोष व लुभावना हो; उसका दुष्परिणाम तुझे व जगत् को अवश्य भोगना पड़ेगा।

मेरी निन्दा या बुराई से मेरा लाभ तो यह है कि मैं

आत्म-निरीक्षण में प्रवृत्त होता रहूंगा और जगत् का यह कि वह मेरी बुराई से बचने के लिए सावधान रहने लगेगा।

आत्म-निन्दा कई बार क्या आत्म-स्तुति का ही परिवर्तित रूप नहीं होता ?

दूसरों के अवगुणों या त्रुटियों को देखना उसी समय हमारा कर्त्तव्य है जब वे या तो हमारे आश्रित हों, या उन्होंने ऐसी जिम्मेदारी हमें सौंप दी हो।

दूसरों के दोष देखने का अधिकार, हमें या तो उनकी सुधारेच्छा से या समाज-संरक्षण की भावना से हो सकता है।

उन दोषों का समाज में आविष्करण उसी समय जायज है जब उनका रूप सामाजिक बन जाता है, या उसीसे व्यक्ति के सुधार की आशा हो, दूसरे सब उपाय बेकार हो गये हों।

इसका ध्यान न रखना या तो अविवेक है, या गुण्डा-पन है।

किसी के ऐब उसे या दूसरों को गिनाने या गिनाते रहने से उसका सुधार नहीं होता, उसके कार्यों व उसके कामों की समय-समय पर मीमांसा व मृदु-आलोचना समभाव-पूर्वक करते रहने से व उसके सत्कार्यों में सहयोग देने से ही उसका सुधार हो सकता है।

'कर्त्तव्य' और 'सौदे' में दिन-रात का अन्तर है। कर्त्तव्य बदला या पुरस्कार की अभिलाषा नहीं रखता, सौदा तो पूरा बल्कि अधिक बदला चाहता है।

अपने सत्कार्य के बदले में यदि कीर्ति या प्रशंसा की चाह हुई तो वह सत्कार्य नहीं, स्वार्थ-साधना ही हुई।

जो शुभकार्य के लिए प्रशंसा के भूखे रहते हैं, उनकी वास्तविक प्रीति शुभकार्य से नहीं, प्रशंसा से है।

सत्कार्य वह है जिसका स्मरण तक न रहे, दूसरे यदि उसका उल्लेख भी करें तो उसे सुनने में हमें संकोच हो।

अपने गुणों और सफलताओं का स्मरण, हमें अभिमानी और उद्धत बना देता है। अपने दोषों का भान हमें विनम्र बनाता है।

एक मित्र ने मेरी कमजोरियों का चौकीदार अपनेको बना लिया है। जब वे अपने अनघड़ तरीके से मुझपर व नीयत पर मेरी भी हमला कर बैठते हैं तब मेरा 'छुई-मुई-दिल' झल्ला उठता है। दूसरे ही क्षण याद आती है कि तरीके पर नहीं, नीयत पर ध्यान दो।

संसार में मेरा शत्रु कौन है? मेरे विकार, कुकर्म या

जिन्हें मुझसे नुकसान पहुंचा है या पहुंचने का अन्देशा है, वे लोग ?

विकार, चोरों की तरह, गाफिल मनुष्य के घर में ही सेंध लगाते हैं। जागरूकता उनके हमले से बचाव की सबसे बड़ी ढाल है।

पाप की कल्पना आरम्भ में अफीम के फूल की तरह सुन्दर और मनोहारिणी होती है; किन्तु अन्त में नागिन के आलिंगन की तरह विनाशमयी है।

पाप विनाश की वंसी है, जिसके कांटे का ज्ञान मछली को लीलते समय नहीं, बल्कि मरते समय होता है।

कायर से अत्याचारी अच्छा; अत्याचारी से संयमी अच्छा; कायरता से प्रतिकार अच्छा; प्रतिकार से क्षमा अच्छी। कायरता से सशस्त्रता अच्छी; सशस्त्रता से निःशस्त्रता अच्छी।

जो कुछ करो ज्ञान और भान के साथ करो; पाप और बुराई करने से अपनेको न रोक सको, तो पाप और बुराई भले ही करो, किन्तु करो उसके परिणाम को ध्यान में रखकर व पाप के भान से। वह तुम्हारा पतन नहीं, एक प्रकार का प्रयोग होगा।

पतन में परिणाम का अज्ञान होता है, भावावेश में जो

कुछ होता है वह मूर्च्छित दशा में होता है और मूर्च्छा उतर जाने पर हुआ पश्चात्ताप उसे शुद्ध करके आगे बढ़ाता है।

जो कष्ट का नित्य आलिंगन करता है वह मानों आनन्द की गोद में अपनेको सुलाता है।

गुण्डा उसे कहते हैं जो अपनी दुराकांक्षा या महत्त्वाकांक्षा की सिद्धि के लिए नाजायज तरीके—दुर्नीति—वरतता है, सज्जनों का अपमान करता, उन्हें फजीहत व बदनाम करता तथा दुःख देता है।

इन कामों को जो सूक्ष्म या अप्रत्यक्ष रूप से करते हैं वे सभ्य गुंडे हैं।

शत्रु का भी अपमान करने की इच्छा करना, उसे अपमानित देखकर खुश होना भलमनसाहत नहीं, शत्रु पर खुला प्रहार करना बुरा नहीं, परन्तु परोक्ष या गुप्त रीति से उसे जलील करना नामर्दी है।

सहन-शीलता उसी दशा में कमजोरी हो सकती है जब कि किसी भी रूप में बदला लेने की शक्ति मुझमें न हो—या ऐसे साधन मेरे पास न हों।

अपमान की अवस्था में दो प्रतिक्रियाएं होनी चाहिएं—

एक कार्य के प्रति, चित्त की ममता, दूसरी व्यक्ति के प्रति सदयता।

यदि मेरी प्रातिनिधिक स्थिति है, तो मेरा अपमान मुझे प्रतिनिधि बनानें वालों का अपमान है, अत: उसका विचार मुझे अवश्य करना होगा, उसके अधिकार या मान-रक्षा की दृष्टि से।

यदि किसीने अवज्ञा की है, या कोई काम बिगाड़ा है, तो उसपर क्रोध करना आग में पड़े हुए पर तेल छिड़कना नहीं तो क्या है ?

अपमान का बदला लेने के भाव से नहीं, बल्कि अपमान की बुराई से बचने के लिए उसे जरूर चेताना चाहिए।

जब कोई हमारा अपमान करता है, तो इसमें हमारा क्या कसूर है ? उसने हमारा क्या लिया ? या क्या बिगाड़ा ? अपनी अधम संस्कृति का परिचय अलबत्ता दिया !

यदि मैं अपमान को अनुभव करता हूं—महत्त्व देता हूं-तो मैं अपने अहंकार के प्रभाव को प्रदर्शित करता हूं, यदि सहन कर लेता हूं तो अपनी उच्च-संस्कृति का परिचय देकर सामने वाले को जाग्रत करना चाहता हूं।

साधारण जन का क्रोध सामने वाले को दण्ड देना चाहता है, सन्त का क्रोध अपने आपको दण्डित करता है।

सन्त को क्रोध आया भी तो वह दया में बदल जाता है।

तेज जब विवेक की सीमा छोड़ देता है तो क्रोध हो जाता है। तेज दूसरों के आक्रमणों के समय हमारी रक्षा करता है, क्रोध हमारे सत्व का नाश करता है।

मुझमें क्रोध तभी तक रह सकता है जब तक मैं अपने प्रति उदार और दूसरों के प्रति कंजूस हूं।

क्रोध का अर्थ यह मान लेना है कि दूसरा मनुष्य हमारी आज्ञा का पालन या इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए बाध्य है।

क्रोध में चाहे जितनी ही वीरता दिखाई दे, वह है भय और कायरता का ही वीर-रूप।

क्रोध करके हम दूसरे को उसकी गलती नहीं समझाते हैं, अपनी पशुता की स्वीकृति उससे कराना चाहते हैं।

जब तक मुझमें झल्लाहट, खासकर अपने पर हमला होने की हालत में; अवशिष्ट है, तब तक मेरा 'अहम्' बाकी है: कार्य के साथ पूरी तल्लीनता नहीं हुई है।

जब मुझमें अभिमान था तब जवाब-दर-जवाब न करना कायरता मालूम होती थी—अब, जब-जब एक साधक की नम्रता का अनुभव करता हूं तब सहन कर लेने में आनन्द मालूम पड़ता है।

दुनिया के बोझ को अपने सिर लेना अहंकार है—ईश्वरत्व का दावा है।

कभी-कभी अहंकार भी बहुत नम्र बन जाता है; किन्तु वह क्रोध में दूसरों को नीचा दिखाने के लिए। इस नम्रता से चित्त को शान्ति नहीं मिलती, न दूसरों का ही समाधान होता है, उलटा अपने दिल में दिन-रात होली जलती रहती है।

अहंकार कई बार आत्म-सम्मान के रूप में आकर हमें धोखा दे जाता है। मान तो वह, जिसकी चिन्ता हमें न करनी पड़े।

जब मैं अहङ्कार में आकर कुछ बोलता हूं तो अपनी शक्ति प्रकट नहीं करता, बल्कि खोता हूं।

जब मैं क्रोध में आकर कुछ कहता या करता हूं तो मैं दुनिया से कहता हूं कि मैंने तो अपना सर्वनाश कर ही लिया है, रहा-सहा तुम पूरा कर दो।

निर्बल मनुष्य पर जबतक मन में घृणा उपजती है तबतक मुझे अपने बल-ऐश्वर्य का काफी घमण्ड है।

जबतक मनुष्य को इतना ही भान है कि मैं अमुक कार्य कर रहा हूं तबतक उसका अहंकार जाग्रत-मात्र है; परन्तु जब वह अपने कार्य से गौरवान्वित होने लगता है और दूसरों के प्रति मन में तुच्छता आने लगती है तब वह अभिमानी होने लगता है।

नम्रता मनुष्यता का विकास है; उद्धतता पशुता का अवशिष्ट है।

आतुरता यह सूचित करती है कि मनुष्य-समाज को तथा प्रकृति को वश में रखने की सत्ता मुझे प्राप्त है!

स्वाभिमान मनुष्यत्व का पहला, व मान-अपमान से परे होना अन्तिम लक्षण है।

पश्चात्ताप और अभिमान दोनों एक जगह नहीं रह सकते।

: ६ :

व्यष्टि—समष्टि

परमात्मा व्यष्टि भी है, और समष्टि भी है। विन्दु-रूप में व्यष्टि, सिन्धु-रूप में समष्टि।

सृष्टि जैसे परमात्मा-रचित है वैसे समाज मनुष्य-रचित है। नियम-बद्ध व संगठित समूह का नाम समाज है।

व्यक्तियों की स्थिति-गतियों का योग समाज की प्रगति है। व्यक्ति का आदर्श ही समाज का आदर्श है।

व्यष्टि की अन्तिम गति समष्टि में लीन हो जाना है, उसी तरह समाज की अन्तिम गति सृष्टि में लीन हो जाना है और सृष्टि की अन्तिम गति परमात्मा में लीन हो जाना है।

लीन हो जाने का अर्थ है अभेद या अद्वैत-सिद्धि।

परमात्मा से सृष्टि वनी हुई है, आवाद ह। अतः समाज

का प्रत्येक घटक परमात्म-तत्त्व से युक्त है। अतः सबकी समता, समान अधिकार ही समाज-व्यवस्था का आधार हो सकता है।

शक्ति सब की भिन्न-भिन्न है; परन्तु नैसर्गिक आवश्यकताएं समान हैं, अतः क्रिया-कलाप में तारतम्य रहेगा, परन्तु सुख-साधनों के उपभोग में समान अधिकार होना चाहिए।

व्यवस्था स्वतन्त्रता को मर्यादित करती है, अतः प्रत्येक सज्ञान, बालिग व्यक्ति का दखल व्यवस्था में होना चाहिए।

सृष्टि परमात्मा की व्यवस्थानुसार चलती है। समाज का सूत्र-संचालन भी ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों द्वारा होना चाहिए जो परमात्मा की तरह सबमें ओत-प्रोत एक-रस या समरस हों।

समाज-व्यवस्था के तीन अंग हैं—रक्षण, पोषण, व शिक्षण। रक्षण में बाह्य शत्रु से तथा पारस्परिक अशान्ति से रक्षण, पोषण में अर्थ-व्यवस्था एवं शिक्षण में चारित्रिक संगठन व विकास शामिल हैं। न्याय का समावेश इन तीनों में होता है।

यह मानना कि अपने लिए दूषित साधन से काम लेना बुरा है, पर समाज-हित के लिए नहीं, अपने हित को समाज-हित से प्रधानता देना है।

मैं अपने हित के लिए दूषित साधन से काम क्यों नहीं लेता? इसलिए न कि उससे मुझे अपनी हानि, बुराई या

बदनामी दिखाई देती है ? फिर समाज की हानि, बुराई या बदनामी की तरफ से मुझे आंखें क्यों मूंदना चाहिए !

प्रकृति ने व्यक्ति को उपजाया है, व्यक्ति ने समाज बनाया है। समाज का केन्द्र व्यक्ति व व्यक्ति की परिधि समाज है।

व्यक्तियों के स्वेच्छा से किये त्याग-रूपी मधुर जीवन-रस से ही समाज का पौधा लहलहाता है।

मनुष्य उतने भोग भोगे जितने समाज-हित में बाधा न पहुंचाते हों। समाज उनसे उतना त्याग चाहे जितना उसकी रक्षा, स्थिति, व्यवस्था, सुदृढ़ता व प्रगति के लिए परम-आवश्यक हो।

भोग का संबन्ध मनुष्य की इच्छा या अभिलाषा से है, श्रम या कर्म उसकी शक्ति व योग्यता पर अवलम्बित है।

जीवन निभ सके, भली-भांति बिना विघ्न-बाधा के चल सके, यह भोग की न्यूनतम सीमा; व जीवन सुखी-सन्तुष्ट, तेजस्वी हो, यह अधिकतम।

सामाजिक त्रिसूत्री—शक्तिभर काम, आवश्यकतानुसार भोग, व समाज-व्यवस्था में दखल। समता की भावना इनमें बल-ऐंठन—का काम दे, जिससे मजबूत रस्सी बन जाय, जो समाज के ढांचे को अच्छी तरह बांधे रहे.।

सत्ता व भोग का वंटवारा समानता की भूमिका पर, व काम या श्रम का वंटवारा शक्ति की नींव पर करना न्याय-युक्त व स्वाभाविक व्यवस्था की वुनियाद है।

राज्य-संस्था—सरकार—का उद्देश या प्रयोजन समाज व्यवस्था ही है। दण्ड-वल उसका विशेष लक्षण हैं। शांति, व्यवस्था व प्रगति उसके उत्तरोत्तर कर्तव्य हैं।

प्राकृतिक विविधता को आंतरिक एकता में ले आना, प्राकृतिक श्री-सम्पत्ति व वलों के उपयोग या उपभोग की दृष्टि से समुचित व्यवस्था करना राज्य-संस्था का उद्देश है।

दण्ड-वल मनुष्य की दुर्वृत्तियों को रोकने के लिए है। किंतु दण्ड-वल का प्रयोग करने वाले स्वतः दुर्वृत्ति-रहित नहीं होते, फलतः 'अन्धेनैवनीयमाना यथान्धाः' वाली दशा हो रही है।

इसका उपाय? सत्शिक्षा के द्वारा मनुष्य की सत्वृत्तियों को वढ़ाना, परस्पर प्रेम, सदाचार, सहिष्णुता, समभाव को वढ़ाते जाना।

विगड़ी व्यवस्था को सुधारना प्रत्येक का कर्त्तव्य है। पुरानी व्यवस्था में एकदम आमूल परिवर्तन करना या नवीन व्यवस्था कायम करना क्रांति है।

समय आ पड़ने पर क्रांति करना अपराध नहीं, कर्त्तव्य है।

राज्य-व्यवस्था का सूत्रधार राजा कहा जाता है, आजकल निर्वाचित राष्ट्रपति सूत्र-संचालन करते हैं। पहला निरंकुश; दूसरा नियंत्रित।

प्रजा की सम्मति से जहां नियम कानून बनते हैं और अधिकारियों की नियुक्ति होती है, उसे प्रजासत्ता कहते हैं। ये दोनों कार्य जहां एक व्यक्ति करता है, वह या तो राजा या सर्वाधिकारी—डिक्टेटर—कहलाता है।

राजा वंश-परम्परागत होता है, सर्वाधिकारी जनता की रुचि रहने तक ही ठहर सकता है।

राज-नीति शक्ति का खेल है। सज्जनों के या स्वकीयों के प्रति वह विश्वासकारक व दुर्जनों या परकीयों के प्रति भय-कारक रूप में प्रकट की जाती है।

अधम राजनीति शत्रु को मिटाती, मध्यम निर्बल बनाती व उत्तम उसे मित्र बनाती है। अधम व्यवस्था दुर्जनों का नाश करती, मध्यम उन्हें दण्ड से निर्बल बनाती व उत्तम नियंत्रित करके सज्जन बनाने का यत्न करती है।

अधम राजनीतिज्ञ शक्ति अपने पास रखता है; मध्यम सूत्र अपने हाथ में रखता है, उत्तम सूत्र-धारों को अपने हाथ में रखता है।

विद्यापीठ और आश्रम खोलकर ही नेता और सन्त नहीं पदा किये जा सकते। इंगरसोल ने ठीक कहा है—"कालेज पत्थर के टुकड़ों को तो चमकदार बनाते हैं, किन्तु हीरों पर जंग चढ़ा देते हैं।"

सन्त और नेता तो अपनी-अपनी प्रकृति लेकर ही जन्मते हैं। वे अक्सर प्रतिकूल वातावरण में ही पलते हैं।

नेता जो काम प्रयत्न करके दूसरों से कराता है, वही सन्त अपने आचरण की स्फूर्ति से कराता है। नेता जगत् को हिसाव दे सकता है, सन्त अपने-आपको।

नेता प्रत्यक्ष कार्य है, सन्त अन्तः दर्शन।

सन्त का प्रदेश सारा जीवन है, नेता का विशिष्ट और मर्यादित। नेता युग का देव होता है, सन्त त्रिकालदेव।

रामदास सन्त थे; शिवाजी नेता थे। सन्त दिखाता है, और नेता चलाता है।

नेता के पास अपने-पराये का भेद होता है। सन्त के पास नहीं। नेता यह देखता है कि यह मेरे काम आवेगा या नहीं। सन्त यह देखता है कि यह दुखी है या नहीं।

नेता की एक पार्टी होती है, सन्त अकेला होता है। नेता

का वल उसका दल होता है। सन्त का वल उसका निर्मल दिल होता है।

नेता यह देखता है कि इसने मेरी आज्ञा का पालन किया या नहीं, सन्त यह देखता है कि इसे मेरी वात जंची है या नहीं।

नेता पछाड़ता है, सन्त चुमकारता और पुचकारता है।

नेता विजय चाहता है, सन्त पीड़ा दूर करना।

नेता उपयोग करता है, सन्त उपयोग होने देता है।

तुम शासक नहीं शिक्षक वनो। शासक सत्ता से काम लेता है। शिक्षक प्रेम से। सत्ता दूसरे को दवाती है, प्रेम खुद दवता है। सत्ता दूसरे को दवाकर भ्रष्ट होती है, प्रेम खुद दव-कर चढ़ता और पवित्रता छिटकाता है।

शासक तुमको दण्ड-भय से वाह्य नियमों के अधीन चलाता है, सन्त तुम्हारे अन्तस्तल को गुदगुदा कर तुम्हें अपने-आप सत्पथ पर चलने के लिए राजी कर लेता है।

: १० :

पञ्चामृत

मनुष्य की परीक्षा विपत्ति व सम्पत्ति दोनों में होती है। विपत्ति में धैर्य व दृढ़ता की, तथा सम्पत्ति में क्षमा व उदारता की।

विपत्ति में भी जो सौजन्य नहीं छोड़ता, दीन-हीनता प्रदर्शित नहीं करता, वही बहादुर है।

सम्पद् में जो छोटों को—साधन-हीनों को—नहीं भूलता, 'छोटे' कामों से घृणा नहीं करता, उसे सम्पद् फूलती-फलती है।

तू ने मेरे कार्यों का हिसाब लगा लिया, मेरी भावना को कैसे तौलेगा ?

जब मैं कम बोलता हूं, कम हलचल मचाता हूं; तू समझता है मैं अकर्मण्य हो रहा हूं; मगर मैं मानता हूं कि मैं जबरदस्त सुप्त-शक्तियों को जगा व इकट्ठा कर रहा हूं।

दुनिया ने तुझे निकम्मा ठहरा दिया तो तू क्यों घबराता है? जिस दिन तेरा दिल तुझे निकम्मा ठहरा देगा, उस दिन सारी दुनिया की प्रशंसा तेरे काम नहीं आवेगी।

दुनिया की प्रशंसा नहीं, दुनिया का आदर कीमती चीज़ है। प्रशंसा मुंह से, प्रेम आंखों से, आदर व्यवहार से टपकता है।

सफलता बाहरी साधनों और उपकरणों पर नहीं, बल्कि भीतरी तेज और ज्योति पर अवलम्बित है।

जबतक हमारा मन सरस और नीरस, सुन्दर और असुन्दर वस्तुओं में भेद करता रहता है तबतक सूक्ष्म ब्रह्मचर्य का पालन असम्भव है।

सिपाही का प्रभाव तभीतक है, जबतक उसकी कमर में चमकीली तलवार लटकती रहती है। सेवक की प्रतिष्ठा तभीतक है जबतक उसकी सेवा-शक्ति चमकती रहती है।

सार्वजनिक सेवा या हित के नाम पर किसी की पगड़ी उछालने या किसी को गिराने की चेष्टा वही कर सकते हैं जिन्होंने या तो ऐसी सेवा या हित का कभी ख़याल ही नहीं किया या इनकी कोई अलग व्याख्या उन्होंने बना रखी है।

संस्था या आश्रम हम सेवा के लिए बनाते हैं, या अपनी

सुविधा के लिए ? यदि सेवा के लिए तो फिर हमें इनमें आसक्ति क्यों ?

एक ने यह पूछा कि महात्माजी राजनीतिक विषयों को भी धार्मिक क्यों बनाते हैं ? इसका कारण यह है कि महात्माजी की दृष्टि और वृत्ति दोनों ही धार्मिक हैं; इस लिए उन्हें हर वस्तु धार्मिक दिखाई देती है ! इसी तरह जिन लोगों की वृत्ति और दृष्टि राजनीतिक है उन्हें सब चीजें राजनीतिक दिखाई देती हैं।

जब मैं किसी को 'अपना' काम समझने लगता हूं तब दूसरे के कामों की ओर तटस्थता, वैराग्य या उदासीनता जरूर आ जाती है और ऐसे प्रसङ्ग आ सकते हैं जब वह स्पर्धा और द्वेष में परिणत हो जायं।

यदि तू खुदगरज नहीं है तो तू अपने को अकेला नहीं अनुभव कर सकता। दूसरे का उपयोग कर लेने की बनिस्वत अपना उपयोग होने दे। यही सच्चा आत्मसमर्पण या स्वार्थ-विस्मृति है।

एक ने कहा—'दुनिया में बलवान् को पूछते हैं, भले को कोई नहीं।'

दूसरे ने जवाब दिया—'लेकिन भगवान् के घर किसकी पूछ होती है ?'

आज के नियम और मर्यादा हमारा कल का स्वभाव बनाते हैं। (पिछले) कल का स्वभाव हमारे आज के आदर्श और साथी चुनने पर एवं नियम और मर्यादाओं के बनाने पर असर डालता है।

उदासीनता, उपेक्षा; तुच्छता या तिरस्कार-भाव ये दूसरों से अपने को अलग समझने और रखने की उत्तरोत्तर बुरः अवस्थाएं हैं। उदासीनता हमारी लाचारी को सूचित करती है। उपेक्षा में हमें अपने बल और शक्ति का भान रहता है और तिरस्कार में अपने को बड़ा और श्रेष्ठ समझने का और दूसरे को हीन और कनिष्ठ समझने का।

यदि मुझे तेरा ही निरन्तर खयाल बना रहता है तो या तो मैं तेरा प्रेमी हूं या विरोधी। यदि प्रेमी हूं तो मैं तुझसे बार-बार मिलना चाहूंगा, यदि विरोधी तो तुझसे मिलना टालूंगा।

पहले वैभव का दुःख ही दुःख, चिन्ता ही चिन्ता मेरे हिस्से में आती थी, अब उसका सुख ही सुख मेरे पल्ले पड़ता है, यह क्यों? क्योंकि पहले मैं वैभव में लिप्त था, अब उसका दृष्टा-मात्र हूं।

'पोल खोलना' जो अपने जीवन का आधार बना लेते ह उनका जीवन दिन-दिन 'पोल' होता जायगा। यह परोपकार

उनकी पेट-पूर्ति तो किसी तरह करता रहेगा, किन्तु जीवन के हीरे के मूल्य पर !

यदि तुझे लोकप्रिय बनना है तो सेवा कर, सेवा का निमित्त मत बन। लोकप्रियता का खयाल छोड़ दे, तुझे उसका सही रास्ता मिल जायगा।

तुनुक-मिजाज अक्सर वे लोग होते हैं जिन्हें दूसरों को डांटने में तो स्वाद है, परन्तु जो अपने पर डांट पड़ना पसन्द नहीं करते।

मनुष्य में आत्म-सुधार की प्रेरणा उसे दूसरे की नजरों में गिराकर नहीं की जा सकती । जब वह अपनी ही नजरों में गिरता है तब यह प्रेरणा दुर्दमनीय होती है।

दुनिया 'मूर्ख' कहे तो परवा नहीं । इस बात का सदैव ध्यान रक्खो कि वह तुम्हें 'दुष्ट' न कहे।

मूर्ख वह है जिसे भले-बुरे का ज्ञान न हो; किन्तु दुनिया-दार मूर्ख उसे कहते हैं जो अपने से अधिक दूसरों का खयाल रखता है।

जो मनुष्य थोड़ी बात कह कर शेष पेट में रखता है, उससे लोग डरते हैं और उस पर भरोसा नहीं रखते। सामने वाले को अन्धकार में रखते हुए वह अपने को 'सर्चलाइट' का

पात्र बनाता है और अपने को छिपाते हुए भी बार-बार पकड़ा जाता है ।

जब मैं कार्य का विचार करता हूं तो बड़े सही परिणाम और निर्णय पर पहुंचता हूं, जब व्यक्ति का विचार सामने आता है तो वह भटकाने लगता है ।

जोरदार (Strong) आदमी दो तरह के होते हैं–एक वे जो दूसरों को दबाते हैं, दूसरे वे जो दूसरों से दबते नहीं । पहला आदमी बहुत से शत्रु उत्पन्न कर लेता है और दूसरे का तेज दिन-दिन बढ़ता जाता है ।

'तनख्वाहदार' देश-सेवक क्या इसीलिए बुरा है कि वह निश्चित खर्च लेता है, नियमित सेवा देता है और उसका हिसाब पेश करता है ? 'आनरेरी' देशभक्त क्या इसीलिए बड़े हैं कि उनसे न कोई खर्च-वर्च का हिसाब मांग सकता है, न सेवा का; न यही पूछ सकता है कि रुपया कहां से लाते हो और किस तरीके से लाते हो, और कैसे खर्च करते हो ?

सेवा-पंथ को छोड़कर तू महत्त्वाकांक्षा के फेरे में क्यों पड़ गया ? तेरे किस पाप ने अमृत का कलश तेरे हाथ से छीनकर यह शराब का प्याला दे दिया ?

और तू प्याले-पर-प्याले क्यों चढ़ाता जा रहा है ? जरा

ठहरकर मन में हिसाब तो लगा कि तू कहां था और कहां जा रहा है ? इतना दम तो ले लिया कर।

तेरे खातिर जिन बातों को मैंने सहा उन्हीं को यदि तू आज मुझे मारने के लिए तीर बना रहा है तो दुनिया तुझे बहादुर नहीं, कृतघ्न और नीच कहेगी। तू मेरे अस्तित्व को मिटा सकता हो तो इसका मुझे दुःख नहीं है, तुझे कृतघ्न और नीच बनता हुआ देखकर मेरी आत्मा का विलाप बंद नहीं हो रहा है।

विरोध और प्रहार का स्वाद मैं ले सकता हूं, किंतु कृतघ्नता और नीचता तो मुझे मनुष्यता की कोढ़ मालूम होती है।

दुनिया को तो अबतक कोई सन्तुष्ट कर नहीं सका है, तू अपने को ही सन्तुष्ट कर ले तो बहुत है।

'भाई चारा' और 'साथीपन' का बहुत उथला अर्थ हमने समझ रखा है। भौतिक और लौकिक आकांक्षाओं और मांगों की पूर्ति नहीं, बल्कि आत्मिक भोजन और सन्मार्ग-दर्शन इनकी सच्ची कसौटी है।

मैं अकेला रह जाऊं तो भी मेरे आचरण और मेरी सेवा का मालिक तो मैं ही हूं। मेरी कीमत उसी के अनुसार होगी न कि मेरे पीछे लगी भीड़ के कारण।

यदि मेरी शुद्ध सेवा के वदौलत भीड़ मेरे साथ है तो वह मेरा और अपना वल वढ़ायेगी—यदि प्रलोभनों और दूसरे थोथे कारणों से वह जमी हुई है तो दोनों के लिए एक आफत और फजीहत सावित होगी।

जिसे अकेले भी अपने निर्दिष्ट पथ पर चलने की हिम्मत है वही सच्चा वहादुर है। अकेला अन्त तक निर्दिष्ट पथ पर वही चल सकता है जिसका पथ सत्पथ है और जिसे सत्पथ ही प्रिय है।

यदि तूने अपनी कोई गलती महसूस की है तो तू अपनी तरफ से उसे फौरन पोंछ डाल। दूसरे की गलती या अन्याय को उसके इन्साफ पर छोड़ दे।

जब मनुष्य सब सूत्र अपने ही हाथों में रखने की इच्छा करने लगता है तब दूसरों को दवाने की, उसके साथ अन्याय होता हो तो होने देने की या उसकी उपेक्षा करने की वृत्ति अपने-आप वनने लगती है।

जैसे आतङ्कवाद के दिन चले गये वैसे गांधी और जवाहर के सरस सत्य-युग में कूटनीति के भी वारह वज गये।

जब हम ढाल को खञ्जर समझने लगते हैं तब ईश्वर ही हमारी खैर कर सकता है।

दुनिया तो उतना ही देख सकती है जितना उसकी निगाह में आता है। मगर हम तो अपना सब-कुछ देख सकते हैं। अगर अपनी निगाह में हम सदैव अच्छे और सच्चे ठहरते हैं तो दुनिया की छी-थू से घबराने की क्या जरूरत ? यदि हम अपनी निगाह में ही गये-गुजरे हैं, तो दुनिया का बढ़ावा हमें कितना ऊंचा उठा सकता है ?

किसीने बहुत खूब कहा है—

"चाह गई, चिन्ता गई, मनुवा बे-परवाह ।
जा को कछू न चाहिए, सो जग शाहन्शाह ॥"

गुप्तता का दूसरा पहलू है असंयम । जितना ही अधिक संयम उतना ही अधिक खुली पुस्तक का-सा जीवन ।

जहां बाहरी आचार, बाहरी आडम्बर अधिक, वहीं भीतरी पोलखाता अधिक । जहां भीतरी शुद्धि अधिक वहीं बाह्य के प्रति उदासीनता, निराग्रह ।

विचार-जगत् में तो सभी आशावादी रहते हैं, किन्तु पक्का आशावादी उसे कहना चाहिए, जो कर्म-जगत् में निराशाओं के बीच आशावादी बना रहे ।

निराश वही हो सकता है जिसने अपने-आपको कर्त्ता मान लिया है। यह अहङ्कार ही है। जहां वास्तविक आत्मार्पण है

वहां निराशा आ ही नहीं सकती । जिसने अपने को प्रभु के हाथों में सौंप दिया है, उसे निराशा से क्या सरोकार ?

मनुष्य को सर्वदा आगे, निराशा के समय पीछे और कभी-कभी आस-पास देखते रहना चाहिए ।

तू सेवक बनना चाहता है या स्वामी ? यदि सेवक, तो फिर दल-बल की इतनी चिन्ता क्यों ?

एक ने कहा—'आदमी है तो बड़े काम का, पर स्वभाव टेढ़ा है ।' दूसरा बोला—'दूध देने वाली गाय की लात को सभी सह लेते हैं ।' तब मैं गाय से पूछता हूं, जब तू सारे अङ्ग-प्रत्यङ्गों का सार दे देती है तब फिर लात मार कर अपजस क्यों लेती है ?

ग्राम की अपेक्षा शहर के जीवन में इतनी कुटिलता क्यों है ? इसलिए कि शहर में स्वार्थ-साधु अधिक होते हैं । स्वार्थ और महत्त्वाकांक्षा ही मनुष्य को कुटिल बनाते हैं ।

जिस विषय में मेरा मत-भेद है उसमें मुझे मित्रों, साथियों, व कुटुम्बियों से भी सहायता व सहयोग न मांगना चाहिए; वे प्रसन्नता या स्व-प्रेरणा से दें तो तभी स्वीकार करना चाहिए जब उसे पचाने की शक्ति हो ।

सिद्धान्त व तफसील के मत-भेद में फर्क क्या ? जीवन-

नियम या नीति-नियम सिद्धान्त-कोटि में आ सकते हैं; उनकी योजना, पद्धति, कार्य-क्रम, विधि की गणना तफसील में हो सकती है।

किसी चीज को जब हम सस्ता बनाते हैं तो उसका फायदा तो मुख्यतः सम्पन्न लोगों को मिलता है, परन्तु उसका बोझा पड़ता है सबसे नीचे के लोगों पर।

महत्त्वाकांक्षी को या तो रास्ता और मैदान दे दो या भिड़न्त के लिए अपने को तैयार कर लो। रास्ता और मैदान दे देने में कमजोरी दीखती है, पर वास्तव में वह बुद्धिमानी होती है। फिर जिसे सेवा ही करनी है उसे महत्त्वाकांक्षियों से भिड़ने का प्रयोजन ही क्या है?

गांधीजी अहिंसा के प्रयोग में अपने-आपको अकेला अनुभव करने लगे हैं। यदि उनकी अहिंसा का विकास रुक गया होता तो वे ऐसा अनुभव नहीं करते।

ईर्ष्या दूसरे के उत्कर्ष को सहन नहीं करती, मत्सर दूसरे को हानि भी पहुंचाता है।

जबतक कार्य, संस्था या सङ्गठन से ममत्व है तबतक ईर्ष्या-द्वेष का भय बना ही हुआ है।

ममत्व के कारण संस्था के कार्य में बल और जीवन तो

रहता है, परन्तु ममत्व को ठेस पहुंचते ही संस्था व कार्य छिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

ममत्व में कुछ तो भौतिक लाभ की इच्छा रहती है। जबतक केवल सेवा से ही सन्तोष नहीं मिलता तबतक ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर का निर्मूल होना कठिन है।

यदि तेरी सलाह बेशकीमती है, यदि तुझ से सलाह दिये बिना रहा नहीं जाता, तो तू अपमान और अवगणना की जोखिम उठाकर भी सलाह क्यों नहीं देता ?

पिता और माता इसलिए पूजनीय और देवतुल्य नहीं माने गये हैं कि वे हमसे अधिक योग्य, अधिक प्रसिद्ध होते हैं, बल्कि इसलिए कि वे पिता और माता हैं।

सिद्धान्त और आदर्श के लिए हम पिता-माता से लड़ सकते हैं, किंतु उनके प्रति अपने पूज्य-भाव को कम नहीं कर सकते।

एक शिक्षार्थी के रूप में हम माता-पिता के गुण-दोषों का अवलोकन कर सकते हैं, एक आलोचक के रूप में नहीं।

एक मित्र ने टिप्पणी की—'तुम लड़वैये नहीं हो, दब जाते हो।' मैंने जवाब दिया—'मैं लड़ता तो हूं, मगर बात-बात पर नहीं और मैं जिस भूमिका से लड़ता हूं वह कुछ

भिन्न रहती है। मैं दूसरों को अपने गुणों और सेवा से जीतना चाहता हूं, न कि बल और संगठन के द्वारा।'

कुछ मित्र कहते हैं—तुम बहुत सीधे, बहुत भोले-भाले हो। इसके विपरीत कुछ मित्रों का कहना है—इस प्रान्त में तुम्हारे बराबर बुद्धिमान् कार्यकर्ता नहीं। मैं तो भगवान् का नाम लेकर, मुझे जो कुछ भला मालूम होता है, करता रहता हूं। दुनिया अपने-अपने बांटों से भले ही तौलती रहे।

जबतक अपनी प्रशंसा सुनकर हमें उत्साह होता है तबतक टीका और निन्दा से हम समुचित लाभ न उठा पावेंगे।

जब निन्दा और टीका सुनने में रुचि होने लगती है और टीकाकार विरोधी के बजाय मित्र मालूम होने लगता है तब निर्दोषता और तेज बढ़ने लगता है।

जो तुझे यह सलाह देता है कि यह काम तू ही कर, दूसरे को मत करने दे—वह तेरे मन में अनिष्ट भेद-भाव पदा कर रहा है।

तुझे इस बात का खयाल बार-बार क्यों आता है कि फलां मुझसे खुश है या नहीं? तू सदा यही देख कि तेरी अन्तरात्मा तुझसे खुश है या नहीं?

दूसरों को खुश रखने की प्रवृत्ति अन्त म खुशामद मं

वदल जाती है। खुशामद से सत्व-नाश होता है।

यदि तूने विश्वास में मुझसे अपनी कोई कमजोरी या वुराई वता दी है तो उससे वेजा फायदा उठाने से वढ़कर पाप शायद ही कोई हो।

विश्वासघाती सांप से भी भयंकर है।

परन्तु यदि सचमुच मैंने कोई वुराई की है, तो फिर उसके जाहिर हो जाने से मुझे इतना घवराना क्यों चाहिए? उसका जाहिर हो जाना फोड़े में से पीप निकल जाने के समान है।

यदि बुराई करके तू ईश्वर का गुनहगार वन चुका है तो लोक-समाज में अपने को निर्दोष सिद्ध करके तू आन्तरिक शान्ति कैसे पा सकता है?

यदि तुझे परीक्षा ही देनी है तो फिर मनुष्य के आगे देने के बदले ईश्वर के ही आगे क्यों नहीं देता? ईश्वर और मनुष्य म यह फर्क है कि ईश्वर सब कुछ देखता है और मनुष्य सिर्फ उतना ही देख सकता है जितना कि उसके सामने आता है।

यदि मैं चुपचाप सहन करता हूं तो या तो मैं ईश्वर-वल को तेरे अन्याय या अत्याचार का मुकावला करने के लिए प्रेरित करता हूं, या अपनी कमजोरी को छिपा लेना चाहता

हूं। यदि पहली बात है तो मेरे चेहरे पर एक तेज होगा, यदि दूसरी, तो तेरे सामने आंख उठाकर देखने का साहस मुझे न होगा।

यदि मैं बलवान हूं और फिर सहनशील हूं तो समझ कि तुझ पर दया करता हूं, यदि कमजोर तो समझ कि भीतर ही तेरी जड़ काटने के मनसूबे बांध रहा हूं।

मेरा यह बल तेरा कल्याण करेगा, किन्तु मेरी कमजोरी, सम्भव है, तुझे बरबाद कर दे।

जब मैं तेरा 'उपकार' करता हूं तो अपने 'अहम्' से उसे दूषित कर देता हूं, लेकिन जब मैं तेरे लिए प्रार्थना करता हूं तो तुझे मंगल-मय परमात्मा की गोद में बिठाता हूं।

यदि तेरा दुख या विपता मुझे तेरी सहायता के लिए नहीं दौड़ाती तो या तो विपता से मेरा पाला नहीं पड़ा या मनुष्यता से नाता नहीं जुड़ा।

ये सेवा में बढ़े तेरे कदम रुक क्यों गये ? क्या कुछ हिसाब लगाने लग गये ?

एक ने कहा—'सेवा-क्षेत्र में भी चालाकी-चतुराई की ही चांदी है।' जवाब मिला—'पर सोना तो नहीं होता है न।'

यदि तू मेरे लिए वुरा भाव रखता है तो अवश्य ही यह मेरी किसी वुराई का एक परिणाम है। यदि मैं तेरे लिए अपने यहां फूल ही वोता जाऊंगा तो यदि तेरी संस्कारिता नहीं तो स्वार्थ अवश्य तुझे अपने यहां फल वोने पर मजवूर कर देगा।

यदि तू मेरे प्रति कठोर होता है तो अभी तुझे अपने प्रति ही अधिक कठोर होने की जरूरत है। अहिंसक कठोरता परिणामतः अपने प्रति ही कठोरता हो जाती है।

अखवार वा पत्र निकालने का उद्देश्य क्या है ? अपने को 'वड़ा' वनाने के लिए, अपने पास एक 'हथियार' रखने के लिए, अपना 'पेट' भरने के लिए, 'गालियां' देने के लिए या 'सत्य का प्रकाश' फैलाने के लिए, 'ज्ञान का प्रचार' करने के लिए, 'जीवन की धारा' वहाने के लिए, अपने 'अधिकारों' के वास्ते लड़ने के लिए ?

यदि पहली वात है तो पत्र-संचालन को देश-सेवा और समाज-सेवा के अन्तर्गत न मानना चाहिए; यदि दूसरी वात है तो फिर एक ही प्रांत में, प्रायः एक ही उद्देश्य से, प्रायः एक ही आकार-प्रकार के, कई पत्र क्यों निकलते हैं ?

कई अधमरे, भुखमरे पत्रों की अपेक्षा क्या कुछ अच्छे, हृष्ट-पुष्ट-वलिष्ठ सुसम्पादित और सुसञ्चालित स्वावलम्वी

पत्रों का होना या रहना उचित या लाभकर न होगा ?

भिन्न-भिन्न प्रांतों और भाषाओं में एक ही उद्देश्य से निकलने वाले विविध पत्रों की क्या कोई एक सहयोग-संस्था नहीं बनाई जा सकती ? इसी तरह एक ही प्रांत में एक ही उद्देश्य से काम करने वाले क्या एक ही पत्र या संस्था में सम्मिलित होकर उसकी शक्ति नहीं बढ़ा सकते ?

यह असम्भव नहीं, यदि केवल कार्य या सेवा ही हमारा लक्ष्य हो । यदि व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं को हम जीत सकें तो यह कठिन नहीं है ?

पर आज कल तो उल्टी गङ्गा वह रही है । आपका मेरा झगड़ा हो गया—हमने अलग-अलग अखबार निकाल दिये ! मुख्य सम्पादक या सञ्चालक से पटी नहीं—झट से एक अखबार और निकल पड़ा ! चुनाव में जीतना है, तुरन्त अखबार के लिए एक डिक्लेरेशन हो गया ।

पैक्ट यदि स्वार्थ-सिद्धि के लिए नहीं तो कम-से-कम भौतिक उद्देशों की सिद्धि के लिए अवश्य होते हैं । मित्रता, स्नेह, आत्मीयता, केवल हित-साधन के लिए होते हैं । पक्ट टूटते और तोड़े जाते हैं—मित्रता, स्नेह और आत्मीयता नहीं टूट सकती ।

हम मिल-मालिकों को और व्यापार-व्यवसाय करने वालों

को गरीब का धन चूसने वाले कहते हुए नहीं थकते, परन्तु सिनेमाओं के संचालक तो कला के नाम पर धन और जीवन-चरित्र दोनों का अपहरण करते हैं, फिर भी आश्चर्य है कि हम इसे खुशी-खुशी होने देते हैं।

हम आनन्द को मानते हैं, कला को भी पहचानते हैं, सौंदर्य से भी बहुत नाता-रिश्ता रखते हैं; परन्तु सिनेमा-संसार में तो हम आनन्द, कला और सौंदर्य के नाम पर उन्माद का ही प्रमाद पाते हैं।

चालाकी क्या है ? बुद्धि का इन्द्र-जाल। एक दिन बुद्धि का अंदाज गलत साबित होता है और चालाकी का दिवाला निकल जाता है।

एक आदमी है जिसे लोग आग्रह के साथ चाहते हैं, एक आदमी है जो दूसरों के सिर लदना चाहता है। पहला सेवा-भावी है, दूसरा लुटेरा (Exploiter) है।

सेवक वह है जो अपना दूसरों को देता रहता है; लुटेरा वह है जो दूसरों का छीन लेना चाहता है।

हिसाब-किताब वहींतक हमारा साथ देता है जहांतक हमारी बुद्धि और कल्पना की पहुंच है। क्या संसार की तमाम शक्तियों और उतार-चढ़ावों को हमारी बुद्धि ने नाप लिया है ?

हिसाव-किताव ही लगाना हो तो अपने से अधिक दूसरों का खयाल करके लगाओ। इससे तुम्हारे विरोधी कम होंगे और तुम गलत रास्ते पर न जाओगे।

जो तेरे सामने तेरी प्रशंसा और दूसरों की निंदा या टोका करते हैं वे तुझसे अवश्य कोई स्वार्थ साधना चाहते हैं।

तू उसे अवश्य भला और विश्वसनीय समझ जो तेरे सामने तेरी टीका और दूसरे की वड़ाई करता है।

यदि तुझे सेवा ही करनी है तो इतनी सटपट या उखाड़-पछाड़ की क्या जरूरत है ?

मनुष्य जैसा होता है वैसे ही सिद्धांत उसे प्रिय होते हैं; चोर, व्यभिचारी और कुचक्री की क्या कोई 'फिलासफी' नहीं होती ?

जव मैं शक्ति से अधिक काम का वोझ अपने ऊपर लेता हूं तव या तो मुझे वड़ा कार्यकर्त्ता कहलाने की चाह है या अपनी शक्ति का अन्दाज नहीं है।

शक्ति का अन्दाज लगाना कठिन है; क्योंकि प्रसंग के अनुसार वह घटती-वढ़ती रहती है। यदि हमारी भावना शुद्ध है और प्रयत्न में विवेक है तो सहसा उसका बुरा परिणाम नहीं निकल सकता। मनुष्य का जीवन बहते हुए पानी, बढ़ते

हुए पौधे या खिलते हुए फूल की तरह है, न कि कुण्डों, ठूंठों और हार में गुंथे हुए फूलों की तरह।

किसी की सेवा और महत्त्व का वास्तविक अन्दाज लगाना कठिन है। जो कुछ दिखाई देता है उसी पर से राय बना लेना गलत होता है। जो अन्दर से होता रहता है, परन्तु दिखाई नहीं देता वह इतना बड़ा और अधिक होता है कि कई बार हमारे तमाम अन्दाजों को उलट देता है।

नियम जीवन, कार्य या संस्था के स्वतन्त्र विकास के साधन होते हैं। जब वे उसके बाधक होने लगें तो घर के मैले की तरह वे फेंक देने के योग्य हो जाते हैं।

जब मैं स्नेह से देखता हूं तो मुझे सब लोग प्यारे मालूम होते हैं; किन्तु ज्ञान से देखने की चेष्टा करता हूं तो सब प्याऊ पर जमी भीड़ के मुसाफिर मालूम पड़ते हैं।

ईश्वर या जगत् को कोसने से तेरी स्थिति नहीं सुधर जायगी। अपनी स्थिति के लिए तू अपने को ही दण्ड दे।

तू भौगोलिक, सांसारिक आदि टुकड़ों में मनुष्य-जाति को बांट कर ईश्वर के घर में क्यों भेद डालने की चेष्टा करता है? इन टुकड़ों से तू अपने को चाहे धोखा दे ले; पर उस सर्व-व्यापक की अनन्त आंखों में धूल नहीं झोंक सकता।

तू पत्थर के देव के लिए जीते देवों का द्रोह क्यों करता है ? यदि ईश्वर सबका है व सब जगह हैं, तो फिर इन धार्मिक कलहों में क्यों अपने को बर्बाद करता और ईश्वर से दूर फेंकता है ?

माता में वात्सल्य, पिता में उपयोगिता, पत्नी में अनुराग, मित्र में स्नेह, गुरु में हितकारिता, भाई में ममत्व, और बहन में प्रीति होती है ।

स्वार्थ-भाव, न्याय-भाव व सेवा-भाव ये मनुष्य के विकास की उत्तरोत्तर सीढ़ियां हैं । 'स्वार्थ' में दूसरों का हिताहित गौण होता है, 'न्याय' में अपना व दूसरों का हित समान, किन्तु 'सेवा' में दूसरों के हित की प्रधानता रहती है । स्वार्थी निष्ठुर, न्यायी कठोर व सेवा-भावी सदय-सहृदय होता है ।

जिसका संकल्प खुद अपने पर ही असर नहीं करता वह दूसरों पर कैसे और कितना असर करेगा ?

संसार महा-पुरुषों की प्रयोग-शाला है। मनुष्य व मनुष्य-समाज उनके इच्छा वा अनिच्छा से, जान व अनजान में प्रयोग-द्रव्य हैं ।

जहां साफ ना कहना चाहिए वहां जो हिचकिचाहट होती है, उसका कारण ? सामने वाले का लिहाज, या अपने विश्वास की कमी ?

यदि लिहाज हो तो वह अधिक मृदुता, मधुरता व आदर के साथ व्यक्त किया जा सकता है, यदि विश्वास की दृढ़ता नहीं है तो यह कमजोरी है।

यह कमजोरी दोनों पक्ष के लिए हानिकर है। अपनी सच्ची स्थिति सामने वाले को अप्रकट रहने से वह व्यर्थ की आशा बांध लेता है, और उसकी पूर्ति न होने की अवस्था में खुद भी फजीहत में पड़ता है और वह हमसे शिकायत रखने लगता है।

जो निश्चय जल्दी बदल जाता है, समझो वह जल्दी में, आवेश में, या बिना विचारे किया भी जाता है।

जबतक मेरी प्रवृत्ति दूसरों की सीधी बातों का उलटा अर्थ लगाने की है तबतक मानना चाहिए कि मैं अपनी उलटी बात को सीधे रूप में रखता रहता हूं।

विनोद या तो गैर-जिम्मेदारी का लक्षण है, या आत्मा की निर्मलता व उत्फुल्लता का प्रतिबिम्ब या प्रमाण है।

जब अचानक कोई सात्विक बात मुंह से निकल जाती है, तो उसमें परमात्मा का हाथ होना चाहिए।

जो साहस परमात्मा के नाम पर उठा लिया जाता है, उसकी फिक्र उसे जरूर रहती है। बशर्ते कि हमें उस पर

पछतावा न होने लगा हो।

दूसरों का श्रेय स्वयं ले लेना चोर-मनोवृत्ति है । दूसरे की हानि पर स्वतः लाभ उठाने की स्वार्थी प्रवृत्ति है।

जो अपने मित्र, माता, पत्नी को धोखा दे सकता है, वह किससे चूक सकता है ?

उच्च हृदय मनुष्य से हारने में भी आनन्द आता है, परन्तु क्षुद्र के दिये बहुमान से भी चित्त खिन्न हो जाता है।

प्रेम भी यदि धमकी लेकर सामने आवे तो उसे बैरङ्ग वापिस कर दो । धौंस सहते रहना अपने-आपको नित्य बरबाद करते रहना है।

असहिष्णुता की जड़ में अन्याय या द्वेष की प्रवृत्ति होती है। अन्याय व द्वेष को अपने अन्दर दबाये रखकर एक साधक, सेवक या भक्त, किस तरह शान्त, सफल व लोक-प्रिय बनने की अभिलाषा रखता है ?

सेवा का सबसे बढ़िया पुरस्कार है, आत्म-सन्तुष्टि। सेवा-भावी की चाह अगर कोई हो सकती है तो यही कि उस सेवा में प्रकृत सहायता, सच्चा सहयोग मिले।

जब तुम अपने को पढ़ने लगोगे तो देखोगे कि कैसे-कैसे विस्मयजनक पृष्ठ व दृश्य सामने आते हैं। तुम्हें अपने सुख-

दुःख, हर्ष-शोक, सफलता-विफलता, मैत्री-वैर, का कारण ढूंढने के लिए कहीं बाहर या दूर जाना न पड़ेगा, न अलहदा प्रयत्न ही करना पड़ेगा।

अपने-अपन कर्मों का फल सबको भोगना ही पड़ता है; इसके मानी यह नहीं हैं कि हम किसीके दुःख में सहायक न हों—बल्कि यही कि उस सहायता की मर्यादा है और उसे हमें सदा याद रखना चाहिए।

जहां अधिक लोग सत्व-रक्षा के लिए प्रस्तुत नहीं हैं वहां थोड़े लोगों को अधिक बलिदान के लिए तैयार रहना होगा।

जो आकर्षण बचपन से ही प्रतीत होता हो वह या तो पूर्व-जन्म का संस्कार है या माता-पिता-दत्त है।

नीति सामाजिक जगत् की नींव है। कला, रागात्मक, मानसिक या भावजगत् का आधार है। विद्या या ज्ञान आत्मिक-जगत् का प्रवेश-द्वार है।

यदि तुम्हें भोजन या रोटी की चिन्ता सताती रहती है, तो या तो तुम अयोग्य हो, या स्वार्थान्ध या नास्तिक।

जब बुरा संकल्प भी पूरा होता हुआ देखा जाता है तब ईश्वर की लीला पर विस्मय होता है। शायद ईश्वर मनोरथ तो सभी पूरे करता है; फल अलबत्ता उनका उनकी योग्यता

व स्वरूप के अनुसार देता है।

एक सज्जन ने कहा—यह मालूम होता कि जेल में इतनी समस्याएं हैं तो बाहर ही क्या बुरे थे ?—सच तो यह है कि जबतक हमारे मन में सुख के लिए अनुराग है, व दुःख के लिए विराग है, तबतक हम कहीं रहें, कोई-न-कोई समस्या हमें उलझाती रहेगी।

जब हमें दोनों में अनुराग या विराग होने लगेगा तब समस्याओं का आना व उठना उसी तरह बन्द हो जायगा जिस तरह दरिद्र के यहां कोई धन की चाह रखने वाला नहीं आता-जाता।

सरकारी कर्मचारियों पर अहसान करना अच्छा है, उनका अहसान लेना ठीक नहीं है। अहसान करने का सार्वजनिक उपयोग हो सकता है, लेने से दबकर उनका निजी काम भी कर देना पड़ सकता है।

भोला पुरुष ईश्वर की गोद का बालक है। उसका भोलापन ही उसकी ढाल बन जाता है।

कसम खाना अपने-आप पर ही अविश्वास करने की घोषणा करना है।

बिना जरूरत व बिना वजह स ाई पेश करना अपने

को पहले से ही अपराधी मान लेना है।

किसी के विचार अच्छे होने से ही उसका आचार अच्छा नहीं हो जाता, सिर्फ इतना ही कि उसके अच्छे होने की अधिक आशा है। विचार की गति व शक्ति सदैव आचार की गति व शक्ति से अधिक रहेगी।

मेरा ध्यान इस बात पर रहता है कि मैं दूसरों को किस निगाह से देखता हूं, इस बात पर नहीं कि वे मुझे किस निगाह से देखते हैं।

दूसरे मेरे मत, निश्चय, सिद्धांत को मानें—यह अभिलाषा दूषित नहीं, स्वाभाविक है। मेरे यत्न करने पर भी वे न मानें तो मुझ तटस्थ रहना चाहिए। उनकी निन्दा करने के बजाय उनकी सेवा करके हम उन्हें अधिक अपने नजदीक ला सकते हैं, या उनकी मनोवृत्ति हमारे विचार को मानने के अनुकूल बना सकते हैं।

यदि किसी काम या स्थान की जिम्मेदारी मुझ पर है तो उसकी त्रुटियों की जिम्मेदारी भी मुझ पर अवश्य है। यदि नैतिक दोष या अयोग्यता न हो, व्यावहारिक दक्षता या अनुभव की कमी हो तो वह आसानी से दूर हो सकती है।

पात्र को दान देना उसकी पात्रता की कदर करना-मात्र

है, कुपात्र को दान देना अपनी त्रुटियों, दुर्बलताओं और दोषों को मान्य करना है।

पश्चात्ताप आत्मा का स्नान है। मैल से शरीर खराव हो जाने पर हम शरीर को धो डालते हैं और दिन भर उसके स्मरण का बोझ दिमाग पर नहीं लादे फिरते, उसी तरह कोई पाप वन जाने पर प्रायश्चित्त से वह धुल जाता है, फिर उसका वोझ मस्तिष्क पर सर्वदा लादे रहना आत्मा को दुर्वल बनाने की चेष्टा करना है।

यदि मैं किसी को मन से याद करता हूं तो उसे मैं सच्चा प्रेम करता हूं, यदि मैं जवान से या कलम से याद करता हूं तो वरसात के पानी की तरह उस प्रेम को कुछ गंदला कर देता हूं।

शुभ चिन्तन और प्रार्थना में प्रत्यक्ष सहायता से अधिक वल, गुण और प्रभाव है।

जो मनुष्य दूसरे को लक्ष्य करता है वह अपने को खो देता है जो अपने को साध लेता है, दुनिया उसके लिए सधी-सधाई है।

जिस वारे में मैं कमजोर हूंगा, उसकी मैं सौ-सौ कसमें खाता हूंगा। भीतरी कमी को मनुष्य बाहरी वल से पूरा करने का प्रयत्न करता है।

किसी नियम के पालन में निराग्रहीं तभी हो सकता हूं जब उसका पालन मेरा स्वभाव-धर्म हो गया हो।

जबतक मेरे मन म अपने मूल्य का भान व उसके लिए आदर व दूसरे के लिए तुच्छता का भाव व अनादर है तबतक मैं छोटा ही आदमी हूं, भले ही मैं बड़ा माना जाता हूं।

यदि मैं अपने बारे में दूसरे की राय जानने को उत्सुक रहता हूं तो इसके माने यह हैं कि अपने बारे में मेरी कोई राय नहीं है।

—समाप्त—

लेखक की अन्य
रचनायें

---

१. साधना के पथ पर

२. विश्व की विभूतियां

३. स्वतंत्रता की ओर

४. हिन्दी-गीता

५. जीवन की कृतार्थता